स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में इतिहास और पुराण का नया भावबोध

SWATHANTHRYOTHAR HINDI NATAKOM ME ITIHAS AUR PURAN KA NAYA BHAVBODH

Thesis submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of
Doctor of Philosophy

By

AJITHA K.

Head of the Department

Prof. (Dr.) M. ESWARI

Supervising Teacher

Prof. (Dr.) P. A. SHEMIM ALIYAR

G5630

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN-22

1995

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by Ajitha. K, under my supervision for Ph.D. Degree and no part of this thesis has hitherto been submitted for a degree in any University.

Dr. P.A. SHEMIM ALIYAR
Professor
SUPERVISING TEACHER

Department of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology,
COCHIN - 22.

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 during the tenure of fellowship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

AJITHA. K.

Department of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology,
COCHIN - 682 022.

प्राक्कथन

साहित्य में इतिहास और पुराण का प्रयोग पुरातन काल से होता रहा है । आधुनिक युग में बदली हुई परिस्थिति में विश्वसाहित्य में इस प्रयोग को एक नया आयाम मिला । हिन्दी साहित्य में विशेषकर हिन्दी नाट्य साहित्य में यह प्रयोग स्पष्टत: विद्यमान है । बदली हुई परिस्थिति में बदली हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कथ्य के पुराने प्रतिमान बेकार हो गये । फलत: नूतन प्रयोगों से कथ्य को व्यापकता प्रदान करना नाटककारों का लक्ष्य रहा । इतिहास और पुराण कभी काल के बन्धनों को स्वीकारता नहीं है । उसमें अपने युग के साथ साथ आनेवाले युगों को भी समाहित करने की शक्ति मौजूद है । इस शक्ति को अपनाकर नये नाटककारों ने अतीत के ज़रिए नयी संवेदना को अभिव्यक्त किया । वास्तव में उन्होंने इसके द्वारा अतीत पर वर्तमान को आरोपित किया है जो वर्तमान स्थितियों को पूर्ण रूप में व्याख्यायित करने में सक्षम है ।

स्वातंत्र्योत्तर युग में इस कोटि के अनेक नाटकों की रचना हुई है । लेकिन इन रचनाओं में अतीत के सहारे नये भावबोध प्रस्तुत करने की रचनाकारों की कामयाबी के बारे में किसी ने भी शोध कार्य करने का प्रयास नहीं किया है । इसलिए इस अछूते विषय को मैंने शोध कार्य के लिए चुन लिया । इस विषय के संबंध में कोई स्वतंत्र एवं मौलिक आलोचनात्मक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । डा. रमेश गौतम कृत "समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक" तथा "हिन्दी के पौराणिक नाटक" आदि दो तीन पुस्तकों को छोडकर देखें तो कोई अन्य पुस्तक प्रकाश में नहीं आयी हैं । रमेश गौतम

ने अपनी पुस्तक में एक निश्चित प्रतिमान को नहीं अपनाया और उन लेखों में एकरूपता भी नहीं है । मिथक और कविता, पुराख्यान और कविता, आधबिंब और कविता ऐसे विषयों पर कुछ ग्रंथ तो हैं लेकिन नाटक के बारे में ऐसा प्रयास नहीं के बराबर ही हुआ है ।

अध्ययन की सुविधा के लिए यह शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है । पहला अध्याय है अतीत और साहित्य । इसके अन्तर्गत मैं ने अतीत के प्रमुख स्रोत जैसे इतिहास, पुराण और लोककथा के बारे में अध्ययन किया है । साहित्य के साथ अतीत का संबंध तथा उसकी कालजयी संभावनाओं पर भी इसमें विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है ।

दूसरे अध्याय में पूर्व स्वतंत्रताकालीन ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया है । युगीन परिस्थितियों का प्रभाव किसी भी रचना पर प्रभाव डालता है । इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों का एक लघु चित्र भी मैं ने उपस्थित किया है । उस युग के प्रमुख रचनाकार जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि नाटककारों की रचनाओं का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट होता है कि इन नाटककारों की रचना के पीछे तत्कालीन समस्याओं को सुधारने का प्रयास ज़रूर है । राष्ट्रीयता, अतीत की गरिमा, सांस्कृतिक उन्मेष, इन्हीं के बलबूते पर स्वतंत्रतापूर्वक नाटक टिका हुआ है ।

स्वातंत्र्योत्तर युग में इतिहास और पुराण के प्रयोग में जो अन्तर आया उसे और भी स्पष्ट करने के लिए मैं ने पूर्ववर्ती युग को परखा है ।

इस शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय है "जनहंता राजनीति की झांकी, अतीत के वातायन से"। अतीत के ज़रिए वर्तमान राजनीतिक विसंगतियों का चित्रण अनेक नाटकों में किया गया । ऐसे नाटकों में अभिव्यक्त राजनीतिक अन्तर्विरोधों एवं विडम्बनाओं को परखने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है । अध्याय के प्रारंभ में वर्तमान राजनीतिक संकीर्णताओं पर प्रकाश डालने की कोशिशें भी की हैं ।

नारी शोषण एक सार्वकालिक समस्या है । आज तक इस मामले पर कोई विशेष सुझाव नहीं दिया गया है । फलस्वरूप नारी आज भी अत्याचारों और अनाचारों से मुक्त नहीं है । आधुनिक नारी के जीवन की इन विसंगतियों को उभारनेवाले नाटकों का अध्ययन ही इस शोध प्रबन्ध का चौथा अध्याय है । नारी शोषण के भिन्न-भिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करते हुए मैं ने उन अतीतोन्मुखी नाटकों का विश्लेषण किया है जो इस मुद्दे के इर्द गिर्द बुनाये गये हैं ।

पाँचवाँ अध्याय है "धार्मिक रूढिग्रस्तता का ध्वंस" । आधुनिक मनुष्य विज्ञान व प्रगति के अनेक सोपानों को पार किया है लेकिन धार्मिक संकीर्णताओं से वे मुक्त नहीं हुए हैं । धार्मिक अन्धेपन एवं शोषण

के खिलाफ लडनेवाले ऐसे कुछ व्यक्ति चरित्र हमारे इतिहास और पुराण में बिखरे पडे हैं । इन्हीं पर आधारित नाटकों का एक समग्र अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत है ।

उपसंहार में मैं ने इन सारे नाटकों के अध्ययन विश्लेषण के बाद उभरनेवाली रचनात्मक सफलता की ओर प्रकाश डाला है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफसर, डा. पी. ए. शमीम अलियार के सारस्वत निर्देशन में संपन्न हुआ है । उनके बहुमूल्य निर्देशनों तथा सुझावों के बिना मेरा यह कार्य अधूरा ही रह जाता । मैं उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट कर रही हूँ ।

हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डा. एम. ईश्वरी के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस शोधकार्य में मुझे प्रेरणा दी है ।

इस विभाग के दूसरे अध्यापकों, कार्यालय के कर्मचारियों पुस्तकालय के अधिकारियों एवं मेरे कुछ दोस्तों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इसकी प्रस्तुति के लिए बहुत सहयोग दिये हैं । इस में आ गयी खामियाँ और कमियों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

अजिता. के.

कोचिन विश्वविद्यालय,
कोचिन - 22.

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय : एक — 1 - 25

अतीत और साहित्य

अतीत के मुख्य स्रोत - इतिहास - इतिहास:साहित्य में - साहित्य और इतिहास का संबंध - पुराण - इतिहास, पुराण, लोककथा और मिथक ।

अध्याय : दो — 26 - 73

पूर्वस्वतंत्रताकालीन ऐतिहासिक - पौराणिक नाट्यधारा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - लाला श्रीनिवास दास - प्रतापनारायण मिश्र - राधाकृष्ण दास - बालकृष्ण भट्ट - राधाचरण गोस्वामी - अम्बिकादत्त व्यास - काशीनाथ खत्री - जयशंकर प्रसाद - हरिकृष्ण प्रेमी - गोविन्द वल्लभ पंत - उदयशंकर भट्ट - लक्ष्मी नारायण मिश्र - रामकुमार वर्मा - सेठ गोविन्ददास - अतीत और स्वातंत्र्योत्तर युग ।

अध्याय : तीन — 74 - 172

जनहंता राजनीति की झांकी : अतीत के वातायन से

राजनीतिक दाँवपेंच की दास्तान - शासन और कलाकार - युद्ध की राजनीति ।

पृष्ठ संख्या

अध्याय : चार — 173 - 228

नारी शोषण का अन्तहीन सिलसिला

पुरुष की महत्वाकांक्षा एवं अहम् की वृत्ति - नारी का समर्पण भाव - किराए की कोख - निष्कर्ष

अध्याय : पाँच — 229 - 281

धार्मिक रूढ़िग्रस्तता का ध्वंस

धर्म और उसकी रूढ़िग्रस्तता - धर्म और राजनीति का गठबन्धन - बीस अन्धकार में मानवता की ज्योति - निष्कर्ष ।

उपसंहार — 282 - 291

संदर्भ ग्रंथ सूची — 292 - 303

प्रथम अध्याय

अतीत और साहित्य

साहित्य में मनुष्य के संवेदन की अभिव्यक्ति मिलती है । संवेदनों को अभिव्यक्त करने के लिए किसी न किसी साधन की ज़रूरत होती है । इस साधन की खोज में लेखक अतीत की ओर भी देखता है । अतीत भी किसी-न-किसी तरह मानव के संवेदनों का संकलन है ही । मनुष्य के नये संवेदनों को अभिव्यक्त करने के लिए उसके ही पुराने संवेदन अधिक उपयोगी लगते हैं । अतीत के रूप में लेखक को इतिहास, पुराण, लोककथा, निजंधारी कथा इत्यादि मिलते हैं । अतीत की संप्रेषण शक्ति और उसके प्रति मनुष्य का लगाव को देखकर लेखक अपने साध्य के साधन के रूप में अतीत को अपनाता है । कहीं वह अतीत के पात्र, प्रसंग, कथा एवं परिवेश को आवश्यकतानुसार अपनाता है । सदा के लिए मनुष्य अतीत से अपना नाता तोड नहीं सकता है । वह जितना बुद्धिवादी या प्रयोगवाद हो कभी भी पूर्णतया अपनी भावुकता और परंपरा से मुक्त नहीं हो पाता । इसलिए अतीत की ओर कभी न कभी उसे देखना ही पडता है । साहित्य के आरंभकाल में अतीत का मात्र पुनराविष्कार किया करते थे । लेकिन बाद में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक स्थिति के अनुसार अतीत का पुनराविष्कार होने लगे । आधुनिक काल में अतीत सामयिक स्थिति की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा । स्वातंत्र्योत्तर काल में याने नये परिवेश में वह मानवीय संवेदन का वाहक बन गया है । इसप्रकार अतीत और साहित्य का संबंध पुराना एवं गहरा है ही । नाटकीयता अतीत का मुख्य गुण होने की वजह उसका प्रयोग नाटक में अधिक होने लगा ।

अतीत के मुख्य स्रोत :

जो बीत गया वही अतीत है । इसमें जो यथार्थ होता है वह हमेशा वर्तमान को आलोकित करता है । "अतीत सर्वथा बीत नहीं चुका, वह वर्तमान के रूप में किसी प्रकार पुनर्जीवित है । वर्तमान में रहकर हम अतीत को पढते-समझते हैं और आज से जोडकर उसका मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन करते हैं । यही अतीत अपने माध्यम से हमें वर्तमान को समझने और भविष्य को संकेत देने में सहायक होता है ।"[1] अतीत के साथ साहित्य का संबन्ध साहित्य का समाज के साथ संबन्ध के बराबर है । जो साहित्य मानव या समाज से उत्पन्न होता है उसके भीतर अतीत का बोध आना स्वाभाविक ही है । साहित्यकार सृष्टि की सामग्री जीवन से ही ग्रहण करता है और मानव जीवन की कहानी अर्थात् अतीत से वह लाभ उठाता है ।

मानव जीवन विकासोन्मुख है । उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों क्रमबद्ध है और गतिशील भी है । वर्तमान में जीनेवाला मनुष्य भविष्य की ओर दृष्टि रखता है और अतीत उसके मन में सदा चिन्तन-मनन की प्रेरणा के रूप में विद्यमान रहता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "चिन्तामणी" में लिखा है कि "वर्तमान हमें अन्धा बनाए रखता है ; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखें खोलता रहा है । मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखलानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है ; आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य पर्दा रहता है ।

---

1. हिन्दी उपन्यास: यात्रा गाथा - पृ. 6 - डा. शशिभूषण सिंहल

बीती बिसारनेवाले "आगे की सुध" रखने का दावा किया करें, परिणाम अशान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं ।"[1]

अतीत के प्रति आकर्षण मानव स्वभाव है । क्योंकि वह पुराना होने पर भी मानव की अपनी कहानी है । भूत में वह जो कुछ भोग चुका है अर्थात् जिन परिस्थितियों से उसे गुज़रना पडा, जिन मानसिक तनावों को उसे झेलना पडा उसी प्रकार की स्थिति वर्तमान मानव के सामने भी मौजूद है और भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति का आभास भी उसके मन में सदा रहता है । "अतीत हमेशा वर्तमान की ओर इशारा करता है । यदि किसी जाति का अतीत महान होता है तो आगामी पीढी सदा उस अतीत से लाभ उठा सकती है और असहाय अवस्था में अतीत पर शरणार्थी बन जाती हैं ।"[2] इसलिए अतीत को अपने जीवन से निकाल कर मनुष्य जी नहीं सकता उसी प्रकार साहित्य का भी अतीत से घनिष्ठ संबन्ध है । "अतीत वर्तमान से पूरी तरह अलग नहीं हो पाता, उसका कोई न कोई अंश अनचाहे भी वर्तमान से लिपटा रहता है और यह बात किसी बौद्धिक तर्क या चतुराई से झुठलाइ नहीं जा सकती, क्योंकि उसका संबन्ध तर्क से नहीं तत्व और अन्तर्निहित संरचना के मौलिक सत्य से है । अलबत्ता यह ज़रूरी है कि अतीत से आधुनिकता का अनुप्लावित ही रहता है ।"[3] इससे यह स्पष्ट निकलता है कि अतीत का आश्रय लेने पर रचना की शक्ति बढती है । वह भूत, वर्तमान और भविष्य को अपने में समाहित करते हुए

---

1. चिन्तामणी -1 - पृ. 209 - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. समकालीन कविता : इतिहास बोध - पृ. 18 - डा. राकेश कुमार
3. कविता की तीसरी आँख - पृ. 7 - डा. प्रभाकर श्रोत्रिय

मानव की जीवन-यात्रा में उसका सहभागी ही बनता है । इतिहास और पुराण दोनों से लेखक यह फायदा उठाता हैं । "मिथक और भाषा" में मिथक के बहुआयामी गुण का उल्लेख किया गया है । "मिथक की विराट सत्ता मूलभूत संवेदनाओं को जागृत करके अनादि एवं अनंत मानवता से तादात्म्य होने की अनुभूति हमें करा देती है । पुरातन सनातन बनता है और सनातन अद्यतन बन जाता है । इस प्रकार काल की सत्ता को बाधित करने की सामर्थ्य मिथक में अर्थात् मानवी संवेदना में है ।"[1]

अतीत और मानव के बीच का यह रिश्ता मानवजीवन के इतिहास, साहित्य और अतीत के बीच भी मौजूद है । अतीत के प्रति आकर्षण आधुनिककाल की मात्र विशेषता नहीं है । साहित्य के इतिहास को परखे तो यह स्पष्ट निकलता है कि युग की अच्छी रचनायें अतीत की किसी घटना से जुडी हुई अवश्य रहती हैं । "प्रत्येक युग का प्रौढ़ लेखन अपने युग के ऐतिहासिक सन्दर्भों की टकराहट से निर्मित होता है एवं वह साहित्येतिहास बोध की नवीन संभावनाओं के मार्ग भी प्रशस्त करता है ।"[2] अतीत से साहित्य के इस संबन्ध का प्रमुख कारण वर्तमान और भविष्य को व्याख्यायित करने की उसकी क्षमता है । साहित्यकारों ने वर्तमानकालीन मनुष्य के जीवन की विसंगतियों तक सामयिक सामाजिक परिस्थितियों को चित्रित करने के लिए अतीत का आश्रय लिया । मानवजीवन निरन्तर गतिशील और विकासोन्मुख होने पर भी मानव की मूल संवेदनायें, जो प्राचीन मनुष्य की हो या आधुनिक मनुष्य की उसमें कोई अन्तर नहीं । इसलिए

---

1. मिथक और भाषा - पृ. 55 - सं. डा. शंभुनाथ
2. समकालीन कविता : इतिहासबोध - पृ. 28 - डा. राकेश कुमार

अतीत के अंश को प्रस्तुत कर रचनाकार आधुनिक मानवीय संकट को उभार सकते हैं । "अनुभव के भीतर एक नई अन्तर्वस्तु पैदा हो जाती है जो निरन्तर प्रश्नों और व्याकुलताओं का सामना करने में सार्थक होती है ।"[1] प्रत्येक जनता को अपनी संस्कृति के प्रति मोह होता ही है । भारतीय जनता के सन्दर्भ में कहें तो उनके मन में अतीत के प्रति गहरी आस्था है । चाहे वह कितने आधुनिक हो संस्कृति के बन्धन को सदा के लिए वह तोड नहीं सकता । "भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्राय: सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता रहा है । अत: यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की ; अर्थात् वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती है ।"[2]

साहित्य में अतीत के प्रमुख स्रोत है इतिहास, पुराण आदि साहित्यकारों ने इतिहास और पुराण के खण्डहरों से कुछ अंशों को लेकर अपनी कृतियों में उसका प्रस्तुतीकरण किया और वे आज भी करते जा रहे हैं । यह स्रोत कभी भी अन्त होनेवाला नहीं है और प्रासंगिकता भी हमेशा बनी रहेगी अतीत के पुनरवलोकन के बिना मानव समाज में आत्मचिन्तन संभव नहीं होता । अतीतोन्मुखी साहित्य में परंपरा और आधुनिकता का संबन्ध भी दृढतर होता है । डा. रमेशचन्द्र शाह के अनुसार "परंपराबोध का जो यथार्थ है वह अतीत और वर्तमान को एक करता है दोनों में तारतम्य स्थापित करता है अतीत वर्तमान में ही आ जाता है, इस आभास के बगैर कि अतीत बीत

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 5 - सं. डा. नगेन्द्र
2. साहित्य : अध्ययन की दृष्टियाँ - पृ. 48 - सं. उदयभानु सिंह आदि ।

गया और वर्तमान प्रारंभ हो रहा है ।"[1] आगे अतीत के प्रमुख स्रोतों पर विचार किया जाएगा ।

इतिहास :

मानव समाज की विगत घटनाओं का संकलन ही इतिहास है । यह प्रमाणसिद्ध वास्तविक घटनाओं का निदर्शन होता है । "सत्य में इतिहास शब्द से एक ऐसे व्यापक परिप्रेक्ष्य का बोध होता है जो मानव की मानसिक (वैचारिक) और भौतिक विकास की कहानी कहती है । इस दृष्टि से इतिहास मानव संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है ।"[2] इतिहास मानव जीवन की विकास परंपरा में मनुष्य के भविष्य को रूपायित करनेवाला है । वह प्रगति की ओर समाज का पथप्रदर्शक है । "इतिहास भूतकाल संबन्धी है, साथ ही साथ कालानुक्रम प्रगति का प्रमाण भी ।"[3] भविष्य के प्रति मानव के मन में जो आग्रह है वही भूत के प्रति उनके लगाव का कारण है । डा. सुकुमार अष़ीक्कोड के अनुसार "भविष्य का विचार हमारे मन में इतिहासबोध पैदा करता है ।"[4]

बीते हुए युग के प्रति व्यक्ति अपना मोह दबा नहीं पाता । यह भी इतिहास और साहित्य के संबन्ध का और एक कारण है ।

---

1. पूर्वग्रह - अंक 78-79 - जनवरी-अप्रैल - 1978. सं. अशोक वाजपेयी
2. कविता का अन्तर: अनुशासनीय विवेचन - पृ. 39 डा. वीरेन्द्र सिंह
3. संगथन (पत्रिका) - पृ. 24 - सं. वी. वी. विश्वम् ।
4. मलयाल मनोरमा (दैनिक) जुलाई 15, 1993 - सुकुमार अष़ीक्कोड ।

साहित्य और इतिहास का आपसी रिश्ता कभी अन्त होनेवाला नहीं । वे इतिहास में साहित्य का माल ढूँढता रहता है । एक प्रान्त के लोगों की जाति, परंपरा, संस्कृति इत्यादि का सारांश इतिहास ही संजोकर रखता है । इसलिए उसके आश्रय के बिना साहित्य में उसकी प्रस्तुति संभव नहीं ।

"इतिहास मूल्यवान होने पर भी उसकी प्रस्तुति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा होने के कारण उसमें मतभेदों का आना स्वाभाविक है । इतिहास मानव के लिए शिक्षक बन काम करता है । डा. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "घटना वर्णन इतिहास नहीं कहा जा सकता और यदि वह केवल राजाओं सामन्तों उनसे बेवकूफियों और व्यसनों, उनके युद्ध और विजयों की ऐसी कोरी गाथा हो जिसमें न तो साधारण मानवों के जीवन की झांकी हो और न कभी भाषा, संस्कृति और कला के क्षेत्र में होनेवाले आन्दोलनों का ही जिक्र हो जिन्होंने समय-समय मानव जाति को हिला डुला दिया है तो उसे इतिहास कहलाने का और भी कम हक होगा ।"[1] डा. राजेन्द्र प्रसाद इतिहास को राजाओं-बादशाहों और युद्धों तक सीमित न मानते हैं । साधारण मनुष्य और मानवजाति के विभिन्न आन्दोलन तक इतिहास का क्षेत्र विस्तार मानते हैं । इसलिए यह तो केवल किसी वर्ग विशेष की कहानी नहीं । आनेवाली पीढी को इससे बहुत कुछ स्वीकार करना पडता है । लेकिन यह मत समझना कि जो कुछ इतिहास में लिखा हुआ है वह सच ही है क्योंकि इतिहासकार जो है वह कभी कभी उन घटनाओं से परिचित एवं उस कालविशेष में जीनेवाला व्यक्ति होना ज़रूरी नहीं है । अन्य पुस्तकें तथा

---

1. साहित्य, शिक्षा, संस्कृति - पृ. 73 डा. राजेन्द्र प्रसाद

प्राप्त अन्य सामग्रियाँ और साथ साथ अपनी कल्पना के आश्रय पर ही वह उसे अन्तिम रूप देता है । इस सन्दर्भ में ध्यान देने की बात तो यह है कि कभी कभी सच्चाई लुप्त हो जाती है और कल्पना अतिरेक होता है । विशुद्ध रूप में इतिहास लेखन श्रेयस्कर है लेकिन जाने और अनजाने इसके तथ्य को उलट-पुलट कर प्रस्तुत किया जाता है । किसी भी इतिहास को इतिहास का सच्चा स्वरूप नहीं कहा जा सकता । अंग्रेज़ों द्वारा लिखा हुआ भारतवर्ष का इतिहास इसके लिए प्रमाण है । यहाँ की जनता को सदैव अपने अधीन रखने के उद्देश्य से भारत एवं भारतवासियों की कमज़ोरियों को दिखाना ही इतिहास लेखन द्वारा उनका लक्ष्य था । अपने स्वार्थ लाभ के उद्देश्य से तत्कालीन अंग्रेज़ी इतिहासकारों ने काम किया है । श्री वृन्दावनलाल वर्मा से संबंधित इस घटना से यह बात व्यक्त होती है । "भारत एक गर्म मुल्क है इसलिए यहाँ के निवासी ठण्डे देशों की निवासियों की अपेक्षा कमज़ोर होते, अतः पराजित होते रहे, किन्तु चूँकि अब ठण्डे देश के वासी अंग्रेज़ आ गए, इसलिए अब भविष्य में ऐसा न होगा । इसी कोर पक्षपात कथन पर वर्माजी को क्रोध आया, पुस्तक का दफा नोंच डाला, सत्य के अन्वेषण की ।"[1]

लेकिन सभी इतिहासकार घटनाओं एवं तथ्यों को तोडने-मोडनेवाले नहीं । कभी कभी ऐसे लेखकों के चित्र हमें मिलते हैं जिन्होंने इतिहास लेखन के प्रति इतना दायित्व प्रकट किया है । जेम्स जायस के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने अपनी पुस्तकों में डबलिन शहर का ऐसा चित्र जगह जगह उपस्थित किया है । यदि किसी कारण डबलिन शहर

---

1. वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा - पृ. 7 - डा. सियाराम शरण प्रसाद

समाप्त हो जाय तो जेम्स जायस की किताब से उसका पुनः निर्माण संभव होगा । इससे यह स्पष्ट निकलता है कि इतिहास में तथ्यों की वास्तविकता रचनाकार के दृष्टिकोण के अनुसार बदलती रहती है । इससे यह भी प्रमाणित होता है कि सत्ययुक्त वस्तुसंभरण को इतिहास कहलाने पर भी अमुक ढंग से इसकी रचना होना असंभव ही है । अर्थात् रचनाकार की वैयक्तिक प्रतिक्रिया तथा उसकी विश्लेषणात्मक दृष्टि इतिहास लेखन में उलटफेर आने का कारण बनती है ।

इतिहास : साहित्य में

साहित्य में इतिहास के प्रयोग के बारे में ऐसा कहा गया है कि इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है । किन्तु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किसप्रकार करते हैं । यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह कला की संज्ञा से विभूषित हो सकता है । इतिहास को अपनी सृष्टि का माध्यम बनाते वक्त रचनाकार के सामने दुहरा दायित्वबोध उपस्थित होता है । भूत की वस्तु होने पर भी, कभी इतिहास देशकाल बन्धनों को स्वीकारता नहीं है । साहित्यकार उसके सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत कर सकता है साथ ही साथ उसका रूप विकृत भी कर सकते हैं । लेकिन अपनी कृति द्वारा इतिहास के प्रति तद्वारा समाज के प्रति अपने दायित्व को निभाने के लिए वे बाध्य हैं । कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं जो इतिहास की संप्रेषण क्षमता का पूरा का पूरा लाभ उठाते हुए अपनी कृति को उत्कृष्ट बनानेवाले हैं । कुंवर नारायण के ये शब्द इसके प्रमाण है । "मैं ने स्वयं अपनी कई कविताओं में ऐतिहासिक

स्मृतियों को सामान्य जीवन के साथ रखकर इस तरह देखने की कोशिश की है मानो उसकी वास्तविकता का सन्दर्भ इतिहास से ज़्यादा आज की ज़िन्दगी हो ।"[1]

साहित्य में इतिहास का उपयोग प्रत्येक काल में परिवेश एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा । इसका आरंभ पहले मनोरंजन के लिए और फिर सामाजिक उत्थान को लक्ष्य करते हुए आदर्शवादी सुधारवादी दृष्टिकोण से हुआ । स्वच्छन्दतावादी युग में आते हुए इतिहास की क्षमता का एक कदम आगे बढकर साहित्यकारों ने उपयोग किया । "नवजागरण का इतिहास, दर्शन, पुनरूत्थान की तरह अतीत का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उसे अतिक्रांत करता है । एक सर्जक के रूप में प्रसाद ने अनेक बार इतिहास के माध्यम से ही इतिहास का अतिक्रमण किया है । उनके लिए यह अतिक्रमण घटनाओं, संबन्धों का धारणाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि कई जगह आवेगपूर्ण मानवीयता, उदात्त सांस्कृतिक चैतन्य और महाबोध {विज़न} तक फैल जाती हैं ।"[2]

आधुनिक काल में इतिहास के प्रति साहित्यकार का रुख देश कालानुसार बदलने लगा । "दो महायुद्धों के कारण जो मोहभंग हुआ उसने इतिहास के प्रति चिन्तन को बिलकुल बदल दिया । अगर स्पेन्गलन और टायनबी उस मोहभंग के इतिहासकार है तो मार्क्स भौतिकवादी दृष्टि से

---

1. पूर्वग्रह - अंक -91, मार्च-अप्रैल-1989 - सं. अशोक वाजपेयी
2. पूर्वग्रह - अंक - 91, मार्च-अप्रैल-1989 - सं. अशोक वाजपेयी

इतिहास का एक तर्क सम्मत आशावादी भविष्य प्रस्तुत करते हैं । इतिहास को लेकर समकालीन दृष्टि मूलत: वैज्ञानिक और यथार्थवादी है ।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य में इतिहास का संबन्ध आधुनिककाल में कोई घटना विवरण या मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं लेकिन साहित्य की प्रासंगिकता को लक्ष्य करके किए जाते हैं । डा. रमेश कुमार के अनुसार "आज साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों, स्थूल घटनाओं का प्रत्यक्षित स्तर पर (Appearence) द्वारा इतिहास दृष्टि का सरलीकरण नहीं करता, न ही उसे जड (Static) वस्तु मानता है, वरन् इतिहास की द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोधात्मक शक्तियों, कारकों का गहरे स्तर पर चिन्तन-मनन करके सही दिशा की ओर बढता है । वह युग की समस्याओं के प्रति सचेत रहकर कारक शक्तियों व सतहों के नीचे कारणों को देखकर, अन्तर्विरोधों को पहचानकर उनसे टकराकर इतिहास चेतना की संभावनाओं को संजोता है ।"[2]

साहित्य और इतिहास का संबन्ध

आधुनिक मनुष्य इतिहास से वाकिफ है । यही प्रक्रिया आधुनिक साहित्य में भी मौजूद है । आज व्यक्ति इतिहास के सन्दर्भ में जीनेवाला है क्योंकि प्रत्येक घटना गुज़रे हुए इतिहास की घटना से मिलती जुलती है । इसलिए इतिहासबोध आज के साहित्य और जीवन का एक

---

1. पूर्वग्रह - अंक-91 - मार्च-अप्रैल - 1989 - सं. अशोक वाजपेयी
2. समकालीन कविता इतिहासबोध - पृ. 15 - डा. राकेश कुमार

अभिन्न अंग हो गया है । निर्मल वर्मा के अनुसार "किन्तु यह बात सच है कि इतिहास का जो प्रभुत्व आज हमारे जीवन में है, वह पहले कभी नहीं था, वहाँ यह बात उतनी ही सत्य है कि मनुष्य आज जितना समय और इतिहास से त्रस्त है, उतना पहले किसी युग में नहीं था ।"[1] इतिहासबोध से साहित्य अनश्वरता को प्राप्त करता है । यह रचनाकार की दृष्टि को अतिसूक्ष्म एवं रचना को बहुआयामी बना देता है । इतिहास की यह शक्ति आधुनिक युग के साहित्य में उसकी व्यापकता का कारण बनी । "इतिहास की नमी, तपन ही रचना को शक्ति देती है एवं उसे इतिहासबोध से अनुप्राणित करती है जिससे नई चेतनायें अस्तित्व में आती हैं । आज उन अन्तर्विरोधों को समझकर उनसे टकराने व संघर्ष करने की आवश्यकता है तभी भविष्य की नवीन संभावनायें एवं विकल्प उद्घाटित हो सकते हैं ।"[2]

इतिहास के पन्नों को परखे तो यह बात निखर उठेगी कि कुछ ऐसे चरित्र सभी कालों में पैदा हुए थे जो भिन्न काल एवं परिवेश में जीने पर भी समानतायें प्रकट करनेवाले हैं । इन व्यक्ति-चरित्रों की आवृत्ति इतिहास को एक ऊँचा परिवेश प्रदान करती हैं । यह घटना इसके लिए प्रमाण है । "अहमदाबाद" दूरदर्शन के लिए तैयार गुजराती धारावाहिक, "राज्य परिवर्तन" का प्रदर्शन कुछ घंटे पहले तब रोक दिया गया, जब अधिकारियों ने अन्तिम प्रदर्शन की स्वीकृति के लिए उसे देखा । यह नाटक दो हज़ार पाँच सौ साल पहले लिखे भास और शूद्रक के नाटकों के आधार पर तैयार

---

1. आलोचना - 49-50 - अप्रैल-सितंबर - 1979, सं. नामवरसिंह
2. समकालीन कविता : इतिहास बोध - पृ. 16 - डा. राकेश कुमार

किया गया था, जो न केवल प्रजातंत्र के लिए संघर्ष जैसी समस्या उठाता था, बल्कि उसके पात्र तक जाँच अधिकारियों को वर्तमान राजनेताओं के चरित्र से मिलते जुलते प्रतीत हुए ।"[1] इस घटना से यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य जीवन का कोई अन्त:सूत्र भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच मौजूद है ।

इतिहास की कालजयी शक्ति साहित्य को हमेशा एक प्रभामंडल प्रदान कर रही है । वह विकास का स्रोत है ही । डा. विनय का यह कथन सच ही है कि -

"इतिहास कोई देवता नहीं
अदृश्य अपरिचित
जो मर जाएगा एक दिन
उसकी धमनियों में पैदा होता है विकास
उसे जीना पड़ता है
सैकड़ों सासों में ।"[2]

---

1. Hours it was to go one the air T.V. Serial, based on 2500 years old play was shown the thumbs down signal by Ahammadabad Doordarshan. The authorities said that scenes in the play alluded the present day situations in Delhi and characters resembled the Prime Minister, his wife and V.P. Sing. The ban come in July last year. The producers of the Serial have since gone to court-week-19-29-Feb-1989.

2. एक और पुरुष - पृ. 22 - डा. विनय

ऐतिहासिक साहित्य भिन्न भिन्न विधाओं में आज भी लिखे जाते हैं । चाहे कविता, नाटक, उपन्यास या कहानी सारी विधायें इतिहास का सहारा लेती हैं । इतिहास को साधन के रूप में स्वीकृत साहित्य को ऐतिहासिक साहित्य कहते हैं । मगर इससे इसका ऐतिहासिक होने की अनिवार्यता तो नहीं है । इसके बारे में मोहन राकेश ने लिखा है कि "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता । इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है । साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा । इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है । साहित्य इतिहास के समय से बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग-से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड देता है । इस तरह इतिहास के आज और कल उसके लिए आज और कल नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुडे हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य है । इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोडनेवाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नए और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है । यह निर्माण रूढिगत अर्थ में इतिहास नहीं है ।"[1] लेकिन हर रचना में इतिहास की स्वीकृति समान रूप या दृष्टि से नहीं होती, रचनाकार के उद्देश्य एवं विचारधारा के अनुसार वह बदल जाती है । इतिहास के कम या अधिक मात्रा में इसलिए स्वीकार किया जाता है कि अपने उद्देश्य अधिक संप्रेषित हो जाए । अर्थात् संप्रेषणीयता को बढाने में इतिहास-पुराण का महत्वपूर्ण स्थान है । क्योंकि

---

1. लहरों के राजहंस - पृ. 9 - मोहन राकेश

इतिहास के प्रति एक रागात्मक संबंध मानव की एक विशेष आदत ही है । साहित्य में ऐतिहासिक उपादानों को कभी इतिवृत्त के रूप में, कभी घटना के रूप में और कभी पात्र के रूप में रचनाकार अपनाता है । ऐतिहासिक घटनाओं और प्रसंगों को अपनाकर समकालीन परिस्थिति में उसका आरोप करके जनता को अपनी गलतियों से अवगत कराते हैं, चेतावनी देते हैं । ऐसी रचनाओं में इतिहास सिर्फ साधन मात्र नहीं है । इसलिए "तमस" की प्रस्तुति के वक्त रोक-थाम लगाए जाने पर न्यायाधीशों - श्री. बी. लेंटिन और श्रीमती सुजाता- ने कहा कि "जो इतिहास भुला देता है, वे (गलतियों को) दोहराने के लिए अभिशप्त है ।"[1] और कभी कभी इतिहास के किसी पात्र को लेकर मानव की चिरन्तन समस्याओं को अभिव्यक्ति दी जाती है । ऐसी रचना शाश्वत एवं अधिक मूल्यवान होती है । इतिहासबोध से संपन्न रचनायें प्रायः समान परिवेश एवं पात्रों के द्वारा भविष्य के लिए चेतावनी देती हैं । तब उसका भी बहुत मूल्य रहता है । मगर परिवेश के बदलने पर उसकी महत्ता घट जाती है और उसकी ऐतिहासिक महत्ता मात्र रह जाती है । इतिहास के किसी नाम लेकर उसे प्रतीकात्मक रूप देकर मनुष्य के चिरन्तन संकट, वैषम्य, दुख को अभिव्यक्ति दी जाती है । तब इतिहास के पात्र व नाम इतिहास से मुक्त भी होता है ।

पुराण :

साहित्य सृजन में इतिहास और कल्पना के अलावा जो तत्व प्रमुख रूप में सक्रिय रहता है वह है पुराण । पुराण को मिथक कहकर भी पुकारा जाता है । पुराण और मिथक में समानतायें अधिक होती हैं

---

1. नवभारत टाइम्स (दैनिक) जनवरी 24 - 1988

और भिन्नतायें कम होती हैं । इसलिए उसे यहाँ सुविधा के लिए समानार्थी शब्द के रूप में प्रयोग करती हूँ । इसकी समानता एवं भिन्नता के बारे में भगवत्शरण उपाध्याय ने अपना मत यों प्रकट किया है । ""मिथक" पुराण है भी और संभवत: वह अर्थ की दृष्टि से मिथक से कहीं अधिक मुखर भी है । परन्तु निस्सन्देह पश्चिम की "माइथालजी" से उसकी एकाकारिता स्थापित हो जाती है । इसी कारण "पुराण" नहीं, "मिथक" ।"[1] पुराण या मिथ कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है । लेकिन उसे हम ऐसे व्याख्यायित कर सकते हैं कि ये कथायें लोकानुभूति से संश्लिष्ट ऐसी कथायें हैं जो अलौकिकता का भी कभी संकेत देती है । मिरसिया इलियद ने अपनी पुस्तक "मिथ एण्ड रियालिटी" में कहा है कि मिथक का अर्थ ऐसी सत्यकथा से है जोकि सबसे अधिक मूल्यवान सम्पत्ति है क्योंकि सत्य होने के साथ साथ पवित्रता की भावना भी उसके साथ जुडी रहती है ।"[2] अलौकिकता से आपूर्ण होने के कारण मिथक तर्काश्रित नहीं है और इसलिए इसे काल्पनिक कथायें माननेवाले भी होते हैं । लेकिन मिथक को मानवीय अनुभूतियों का सच्चा इतिहास जिसमें कल्पना का पुट भी है, ऐसा मानना उचित है । इसमें वास्तव में घटित मानवीय अनुभवों का चित्रण है और वह प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से इस जगत के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को भी संपूर्णता के साथ अभिव्यक्त करता है ।

---

1. मिथक और भाषा - पृ. 18 - सं. डा. शंभूनाथ
2. Myth means a true story and beyond that a story that is most precions possession because it is sacred, exemplory-significant. Myth and Reality-P.I MIRCEA ELADE.

इसलिए मिथक को कोरी कल्पना के ऊपर मानव का इतिहास मानना अधिक समीचीन है । "एक अलौकिक कथा के रूप में सामान्यतया देखा जाने पर भी मिथक एक सच्चा इतिहास ही है जो हमेशा यथार्थ को प्रस्तुत करता है ।"[1] साहित्य के क्षेत्र में इतिहास की अपेक्षा पुराण में देशकाल का बन्धन नहीं है । पुराण में इतिहास के समान कोई ठोस सबूत नहीं है । इसलिए रचनाकार को स्वतंत्रता एवं मनमानी का अवसर मिलता है । पुराण के प्रति जो मोह है मानव हृदय में वह भी उसे अधिक संप्रेषणीय बना देता है । मैक्समुल्लर ने "सेलक्टड एस्सेस ओन लांग्वैज, मिथॉलजी आन्ड रिलिजियन" में मिथक के सन्दर्भ में ऐसा कहा है कि "अपने उच्चतर अर्थ में मिथक तत्व वह शक्ति है जो मानव-चित के हर संभव मानसिक क्रियाकलाप में भाषा द्वारा प्रत्युत्पादित होती है ।"[2]

पुराकथाओं की सच्चाई पर प्रश्नचिह्न लगाया जाना स्वाभाविक है । लेकिन बीच-बीच में हमें प्राप्त होनेवाली कुछ ऐतिहासिक निशानियाँ इसकी सच्चाई की ओर इशारा करती है । "होमर के "इलियड" और "ओडिसी" की तरह वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त ग्रंथों को तीन दशक पूर्व तक काल्पनिक माना जाता रहा, जब तक 1956 में हस्तिनापुर की खुदाई में निकले पाण्डवों के पांचवें वंशज

---

1. The Myth is regarded as a sacred story and have a true history because it always deals with realities. P.6- Myth and reality-Mircea Elade.

२. मिथक एक अनुशीलन : डा. मालती सिंह-से उद्धृत

"निचक्षु" के युग के खण्डहर मिल गए । खण्डहरों ने पुराणों में अंकित हस्तिनपुर पर टिड्डियों के आक्रमण तथा गंगा की बाढ को विस्तृत कर दिखाया । अधुनातन ऐतिहासिक खोजों के आधार पर महाभारत का युद्ध राजा नन्द से 1025 अथवा 1050 वर्ष पूर्व हुआ था ।"[1]

बाह्य रूप से देवी-देवताओं की कहानी लगने पर भी मिथकों में मानव जीवन के सारे पहलुओं का समावेश है । मनुष्य की अपनी अनुभूतियों की पुनःसृष्टि पुराकथाओं में संकलित की गयी है । "मनुष्य की आशा-आकांक्षा और संघर्षों की सृजनात्मक कल्पना के अतिरिक्त देवी-देवताओं का कोई दूसरा अस्तित्व नहीं होता । पुरातत्व अनुसन्धान की दृष्टि से देवकथा का आरंभ पृथ्वी स्थानीय देवी से हुआ । पृथ्वी और आसमान के संसर्ग से देवता का जन्म हुआ और इसकी पुराकथा का विकास हुआ, यह भी माना जाता है ।"[2]

मिथक प्रत्येक जाति की संस्कृति के अविच्छिन्न अंग है । धार्मिक विश्वास, आचार-विचार, सत्य एवं आदर्श जैसे आनेवाली परंपरा को धरोहर के रूप में देने की सभी चीज़ें इसमें अवश्य मौजूद है । दुनिया के हर समाज को अपनी अपनी मिथक परंपरायें होती हैं । इसमें एक खास जाति या प्रदेश के लोगों के आचार-विचार एवं मौलिक चिन्तनों की गहरी छाप होती है ।

---

1. मिथक उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य - पृ. 2 - डा. उषापुरी विद्यावाचस्पति

2. मधुमति - अक्तूबर -1992 -

डा. वीरेन्द्र सिंह की राय में "सृजन के जितने मिथक हैं वे मनुष्य के विकास की पहचान कराते हैं । वे मनुष्य के मानवेतर चीज़ों की दुनिया से अलगाव के मिथक हैं । वे मनुष्य को उसकी सीमाओं का अहसास करानेवाले तथा विकास की संभावनायें खोजनेवाले मिथक है ।"[1]

साहित्य में मिथक को एक महत्वपूर्ण स्थान आधुनिक युग की देन है । उसके पहले इसे पौराणिक कथा और सांप्रदायिक, धार्मिक विश्वास के रूप में देख रहे थे तथा उसके अन्तःनिहित ऐतिहासिक आशय को झूठ की दृष्टि से देखते थे । आगे चलकर नवजागरण युग के बाद ही मिथकों की विरासत का साहित्य के क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठापन हुआ । जो बुद्धिवादी विचारक परंपरा द्रोही न थे और अपने अपने देश के सांस्कृतिक विरासत का महत्व समझते थे । उन्होंने उस धारणा का खण्डन किया कि जो कुछ झूठ, गप्प, क़ुमहीन, अतार्किक या अयथार्थ है वही मिथक है ।

मिथक में छिपी हुई संप्रेषण की शक्ति से आधुनिक युग में साहित्यकारों ने अधिक लाभ उठाया । मिथक का बाहरी ढाँचा झूठ होने पर भी उसकी कथा के अन्दर जो गूढ आशय छिपा रहता है वह एक सार्वकालिक सच्चाई का प्रदर्शन करता है । रचनाकार उससे अवगत हो गया कि समाज, मानव जीवन और सृष्टि के बड़े आयामों की तलाश सृजनधर्मी मिथकों से हो सकती है ।

---

1. मिथक और आधुनिक कविता - पृ. 17 - शंभूनाथ

समाज में अतीत की ऐतिहासिक उपलब्धियों, विधि-निषेधों और जीवन्त विश्वासों की अपनी भूमिका है । आधुनिक मनुष्य जीवन के अर्थ से अपने को विच्छिन्न करके आत्मपहचान कायम नहीं रह सकता । वह पुराने क्रिया-अनुष्ठानों से निकलकर प्रौद्योगिकी के आधुनिक कर्मकांडों की ओर बढे, तब भी क्रिया अनुष्ठानों एवं परंपरा से उनका संबन्ध बना रहा ।

साहित्य आदिकाल से मिथक को रचनात्मक सन्दर्भ देता रहा है और परिवर्तित समयबोध के अनुसार उन्हें नए अर्थों एवं सन्दर्भों में रूपान्तरित करता रहा है । साहित्य में मिथक का संबंध रचनात्मक धरातल पर होता है । मिथक अनेक प्रकार के होते हैं जिनका संबन्ध मानव, प्रकृति, ब्रह्मांड तथा मूल्यों से होता है और सामाजिक स्तर पर ये मिथक जातीय अस्मिता से संबन्धित होते हैं ।

आधुनिक युग में मिथक को भाषा और साहित्य के क्षेत्र में नए-नए ढंग से विश्लेषित करने लगा । साहित्यिक मिथक सामाजिक यथार्थ का कलात्मक सृजन है । मिथकीय साहित्य प्रारंभ में अलिखित था, वह जनता के साहित्य का सबसे बडा हिस्सा था । इसलिए इसका व्यापक परिवर्तन हुआ । आज हम उसका जो रूप पाते हैं उसके भीतर मूल रूप कौन सा है बता पाना कठिन ज़रूर है, पर असंभव नहीं है ।

मिथक का साहित्य में उपयोग के बारे में ऐसा कहा गया है कि "पुरावृत्त के उपयोग से कविता में रचनात्मक तौर पर संघनन

का विकास होता है । यह तो है कि उनसे वैयक्तिकता की प्रतीतियों को वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्राप्त होता है । चूँकि पुरावृत्त सामुदायिक या जातीय संस्कृति के अंग होते हैं, इसलिए उनके कारण संप्रेषण में सुविधा होती है । इस संबंध में पुनः यह दोहराना है कि प्राचीन चरित्रों की आधुनिक सन्दर्भ में संगति स्थापित करना ही मूल्यों के स्तर पर पौराणिक प्रतीकों का सफल प्रयोग कहा जा सकता है ।[1] ये प्रतीक समकालीन अनुभवों और समस्याओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति में सक्षम है । रचनाकारों ने मिथकों को ग्रहण करके अपने समकालीन भावबोध को जो गहनता और तीव्रता के कारण रूपहीन हो जा सकता था, स्पष्ट एवं संयत् रूप में संप्रेषित करने का प्रयत्न किया । डा. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव के अनुसार "आधुनिक युग के कवियों ने मिथकीय कल्पनाओं (प्रतीकों, बिंबों, फन्तासियों) में जो नए अर्थ भरे हैं और उन्हें नए संदर्भ एवं परिपार्श्व दिए हैं, उनके कारण वे और भी जीवन्त और प्रभावी हो उठी हैं । एक ओर कवियों को उनके माध्यम से अपने बात कहने की सुविधा मिली है, दूसरी ओर उन्होंने मिथकीय कल्पनाओं को समृद्धतर बना दिया है ।"[2]

इतिहास, पुराण, लोककथा और मिथक :

इतिहास समय और प्रामाणिकता के बन्धनों से जकडे हुए रहता है । ऐतिहासिक चेतना का आधार ठोस देशकाल होता है । इसलिए उसमें लेखकीय स्वातंत्र्य बहुत कम है । इतिहास को लेकर मनमानी

---

1. नई कविता और पौराणिक गाथा - पृ. 33 - डॉ. राम स्वार्थ सिंह
2. मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य - पृ. 5 - डा. जगदीश प्रसाद श्रीव

करने से इतिहास ही नहीं उससे तर्पेक्षित रचना भी अविश्वसनीय लगेगा । अत: ऐतिहासिक रचना की अपनी सीमायें रहती हैं । इतिहासबोध को जागरित करने के लिए और वर्तमान की गलतियों को इंगित करके भविष्य के लिए चेतावनी देने के लिए इतिहास अधिक समीचीन लगता है । लेकिन आधुनिक साहित्य में इतिहास के पात्रों को उसके बन्धनों से मुक्त करके मात्र प्रतीक रूप में प्रयुक्त करते हैं । ऐसे वक्त वह इतिहास का पात्र शायद नाम के लिए मात्र होगा । उससे अधिक वह मिथकीय पात्र (प्रतीक) बन जाएगा । "साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया में महान ऐतिहासिक चरित्र मिथकीय बनते रहते हैं । जनमानस में भी उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है, जब वह चरित्रों की ऐतिहासिक स्मृति से कटकर उनके प्रति अलौकिकता और आस्था की भावना से परिपूर्ण हो जाता है । बुद्ध, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, ज्ञानदेव, नामदेव, कबीर, जायसी आदि सिद्धांत महापुरुषों - जिनके बारे में इतिहास को कोई भ्रम नहीं हो सकता और बहुधा वह जिनके तथ्यात्मक विवरण देता ही है - वे जनमानस और कवि चेतना में मिथकीय बन चुके हैं । कवि कल्पना में सुभाष और गान्धी तक मिथकीय व्यक्तित्व पा चुके हैं ।"[1] मोहन राकेश के नाटक "आषाढ़ का एक दिन" में कालिदास ऐसा एक मिथकीय चरित्र बन गया है । डा. सुरेश अवस्थी ने लिखा है कि "इस प्रकार के नाटकों में ऐतिहासिक कथानक की प्रामाणिकता का न तो कोई अर्थ है और न उसे ढूँढने का प्रयत्न किसी प्रकार से उपयोगी और वांछित है । वास्तव में ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी हो सकती है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों तथा कथा अभिप्रायों को अनैतिहासिक और युगीन बना देता है तथा ऐतिहासिक कथा के अन्तर्द्वन्द्व को

---

1. मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य - पृ. 180 - डा. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

आधुनिक अर्थ व्यंजना प्रदान कर देता है ।"[1] गजानन माधव मुक्तिबोध की कहानी "क्लाड ईथरली" का क्लाड ईथरली भी एक मिथकीय पात्र बन गया हैं । कभी कभी श्रेष्ठ कृति के पात्र मिथकीय चरित्र बन जाते हैं । हिन्दी में प्रेमचन्द कृत "गोदान" का नायक होरी एक मिथकीय चरित्र बन गया है ।[2] होरी का नाम सुनते ही हमारे मन में भारतीय किसान का एक सही चित्र उपस्थित होता है । वह भारतीय किसान का प्रतीक है । प्रतीक बनने के लिए उसको सामूहिक संरचनात्मक होना ज़रूरी है । सामूहिक संरचना मिथक का प्रथम लक्षण है । "कभी कभी श्रेष्ठ कृति में भी आद्यबिंब होते हैं । वे आद्यबिंब जन्मजात संस्कार होते हैं । वे संस्कार सार्वभौम तथा सर्वाधिक होते हैं । इसलिए हमें आकृष्ट करके हममें निर्वैयक्तिक संवेदन जगाने की अपार क्षमता उनमें होती हैं ।"[3]

इसके समान लोककथायें व निजंकारी कथायें भी मिथकीय बन जाती हैं । लोक कथाओं के आधार सामाजिक संरचना है ही । इसलिए लोककथायें सामाजिक संवेदना को अभिव्यक्ति देने का एक सही माध्यम बन गयी हैं । लोककथाओं को मिथकीय रूप देने में गजानन माधव मुक्तिबोध सफल हुए हैं । उनका "ब्रह्मराक्षस" प्रतीक इसका ज्वलंत उदाहरण है । इसी तरह निजंकारी कथायें भी मिथकीय अवधारणायें लेकर आती हैं ।

---

1. विवेक के रंग - पृ. 403 - सं. देवीशंकर अवस्थी
2. आद्यबिंब और गोदान - कृष्णमुरारी मिश्र
3. मिथक और भाषा - पृ. 54 - सं. डा. शंभूनाथ

पुराण को पवित्र इतिहास कहा गया है । उसमें एक ओर अलौकिकता और धर्म है तो दूसरी ओर अतीत का अनुभव भी । मिथक के संबंध में अलौकिकता और धर्म मुख्य नहीं, उसमें निहित सामूहिक संरचनात्मकता मुख्य है, अनुभव मुख्य है । इसलिए हर मिथक पुराण नहीं और सारे पुराण मिथक भी नहीं बन जाते हैं । "कला और धर्म में कभी एकरूपता थी, इसलिए मिथक भी धार्मिकता से जुड़े थे । धर्म-निरपेक्षीकरण की आधुनिक प्रक्रिया में कला और मिथक धार्मिक संसार से बाहर निकल आए ।"[1] पुराण के धर्म निरपेक्षीकरण के साथ उसकी अलौकिकता भी मिट जाता है । ऐसे पुराण मिथक बन जाता है । इसप्रकार मिथक का निर्माण जो साहित्य का साधन है, पुराण, इतिहास, लोक कथा, श्रेष्ठ कृति आदि से होता है । दरअसल वह संप्रेषण का सही एवं श्रेष्ठ माध्यम है । इसलिए आधुनिक संकुल मानसिकता और जीवन संकट को अभिव्यक्त करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है । यह भी सही है कि प्राय: श्रेष्ठ विश्वसाहित्य अतीत के आधार पर लिखे गए हैं ।

अतीत के माध्यम से आधुनिक भावबोध को प्रस्तुत करना ही अतीतोन्मुखी साहित्य का लक्ष्य है । अतीत वहाँ साध्य नहीं सिर्फ साधन मात्र रह जाता है । लेकिन कभी कभी इतिहासबोध से संपन्न रचनाओं के अतीत अपने साधन की सीमाओं का उल्लंघन करता है और आधुनिकता के साथ अपना संबंध स्थापित करता है । मोटे तौर पर स्वातंत्र्योत्तर कालीन साहित्य को नया साहित्य कहते हैं ।

---

1. मिथक और आधुनिक कविता - पृ. 23 - डा. शंभुनाथ

स्वातंत्र्योत्तरकालीन समझ को नया भावबोध भी कहते हैं । इस नयी समझ को सामान्य पात्रों या प्रतीकों-बिंबों के माध्यम से व्यक्त करना आसान नहीं है । इसलिए उसके लिए नया माध्यम या साधन की तलाश करने लगे । ऐसी खोज के फलस्वरूप साहित्य में "मिथक" का आविर्भाव हुआ । मिथकीय सामग्रियों का संकलन इतिहास, पुराण, लोक-कथा, वंशधारा कथा इत्यादि से करने लगे । पुराण आदि इतने लचीले होते हैं कि उन्हें किसी भी आकार में ढाला जा सकता है । ये लेखक की अपनी क्षमता, कल्पनाशक्ति और विचारधारा के अनुसार किसी भी आकार में किसी का भी माध्यम बन सकता है । इतिहास की किसी घटना या किसी प्रसंग को लेते समय मात्र प्रामाणिकता का बन्धन आ जाता है । पर यह भी इतिहास के मिथकीकरण के अवसर पर मिट जाता है । डा. गोविन्द चातक के अनुसार "आधुनिक जीवन के संवेदन को प्रामाणिक तथा विश्वसनीय बनाने के लिए नाटकों में अतीत को एक खोल की तरह ओढा गया है । मुख्य वस्तु यह खोल नहीं है वरन् वह अन्तर्द्वन्द्व है जिसे सृजन के संदर्भ में नाटककार चित्रित करना चाहता है ।"[1]

अध्याय दो

पूर्व स्वतंत्रताकालीन ऐतिहासिक - पौराणिक नाट्यधारा

अध्याय दो

पूर्व स्वतंत्रताकालीन ऐतिहासिक - पौराणिक नाट्यधारा

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य में इतिहास और पुराण का प्रयोग हुआ करता है । नाट्य साहित्य में ही इनका प्रयोग अधिक हुआ है और होता जा रहा है । लेकिन स्वतंत्रता के पूर्ववर्ती और परवर्ती युग में इनका जो प्रयोग हुआ उसमें भिन्नता है और इस भिन्नता में ही उसकी खासियत भी है । पूर्ववर्ती काल में इतिहास - पुराण का प्रयोग मुख्यतः समाज के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जागरण तथा समाज सुधार के उद्देश्य में किया जाता था । इसका कारण युगीन परिस्थितियाँ है जिसने साहित्यकारों को ऐसा रुख अपनाने के लिए बाध्य कर दिया । प्रत्येक युग की साहित्य रचनाओं पर युगीन परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होता ही है ।

भारतेन्दु का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ सुसंगठित नहीं थी । राजनीतिक क्षेत्र में शासन के विभिन्न हाथों में चला जाना, सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न संस्कृतियों (धर्मों) की टकराहट, नयी आर्थिक स्थिति से नष्ट-भ्रष्ट उद्योगों और उससे उत्पन्न आर्थिक कमी सबह ने मिलकर भारतीय समाज को एक विषम परिस्थिति में धकेल दिया । यह परिस्थिति तो सटस्त उपजी हुई नहीं थी, बल्कि दीर्घकाल

से आयी हुई राजनीतिक गतिविधियों का परिणाम थी । मुगल शासकों से शासन की बागडोर व्यापार करने के लिए भारत आना अंग्रेज़ों के "ईस्ट-इंडिया कंपनी" के हाथों में केन्द्रित हो गयी । यह भारतीय जनता को मन में आकुलता एवं भविष्य के प्रति निराशा व्याप्त होने का कारण बना । आगे 1857 में देशी राजाओं के विद्रोह के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त हो गयी और भारत ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया । अंग्रेज़ों ने अपनी प्रशासनिक रीतियों को परिष्कृत किया और इस परिवर्तन ने भारतीय समाज को बहुत प्रभावित किया । भारतीय जनता को नयी परिस्थितियों से जूझना पडा और इसने जीवन के सभी क्षेत्रों में नयी उमंगों का समावेश किया । "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इस संदर्भ के बारे में ऐसा कहा है कि "इस देश के लोग भी नये संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए ।"[1]

स्वार्थ की दृष्टि से जो कुछ कार्य अंग्रेज़ों ने भारतीय अर्थ व्यवस्था में किया वह सब भारतीय जनता को केवल आर्थिक संकट प्रदान करने के लिए कामयाब हुआ । ज़मीन, खेतीबारी, लघु-उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में नये नये परिष्कार अंग्रेज़ों ने अपने व्यापार को सुदृढ़ बनाने के लिए और यहाँ के व्यापार को नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से ही किया । ज़मीन का क्रय-विक्रय तथा ज़मीन्दारी प्रथा, पूँजीवादी व्यवस्था आदि ने किसानों का शोषण किया । गाँवों में गरीबी एवं

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 442 - सं. डा. नगेन्द्र

आर्थिक पराधीनता बढती गयी । उद्योग-धन्धे और खेतीबारी की कमी से लोग बेरोज़गार बन गये । इसने जनता को कुछ सोचने और करने के लिए बाध्य कर दिया । "गाँवों में जडता टूटी, गाँव दूसरे गाँवों और शहर के संपर्क में आने के लिए बाध्य हुए । घेरे में बंधी हुई अर्थ व्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली । जो देश केवल धार्मिक एकता में बन्धा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा ।"[1] इसके अलावा आर्थिक परिवेश के शिथिलीकरण द्वारा मध्यवर्ग का उदय हुआ जो अधिक संवेदनशील थे और अपने समाज, वर्ग, देश आदि के प्रति अधिक उत्सुक थे । अपने भविष्य की जिम्मेदारी हम पर ही हैं इस बोध से गहरा राष्ट्रीय बोध तथा सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न हुए । पश्चिमी शिक्षा प्रणाली से व्यक्ति अधिक स्वतंत्र बन सका और तर्कसम्मत एवं धर्मनिरपेक्ष बनने के लिए उन्हें सहायता दी । "यह वर्ग व्यापक राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की दृष्टि से सोचने लगा था और यह अनुभव करने लगा था कि सभी दृष्टियों से हमारा देश अत्यन्त हीनावस्था में है ; जीवन के सभी क्षेत्रों सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनातिक में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है ।"[2]

मध्यवर्ग को इतना सशक्त बनाने में पाश्चात्य शिक्षा का बडा प्रभाव है । अंग्रेज़ी शिक्षा से जनता पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आया । भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत पहले ही प्रगति पा चुका था लेकिन यहाँ की विद्या प्रत्येक जाति के बीच सीमित थी । समाज में

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 442 - डा. नगेन्द्र
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ. २8 - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

अशिक्षित लोगों की अधिकता, सामाजिक रूढियों के प्रचलन के लिए सहायक थी । अंग्रेज़ी शिक्षा एवं सभ्यता से लोगों ने स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा विवेक सम्मत दृष्टिकोण की महत्ता का अनुभव किया । अंग्रेज़ों ने धर्म प्रचार के लिए अपने काम काजों में देशी बाबूओं को नौकरी देकर उनसे सहायता लेने के लिए और अपने व्यापार की रफ्तार तेज़ करने के लिए अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार किया । यह, सोयी पडी जनता को नयी चेतना प्रदान करने में सहायक हुआ । 1823 में कलकत्ता में एक शिक्षा समिति की नियुक्ति तथा 1824 में कलकत्ता प्रेस की स्थापना ने भी इस क्षेत्र में प्रगति प्रदान की । बनारस हिन्दु कालेज, फोर्ट विलियम कालेज आदि आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव डालनेवाली शैक्षणिक संस्थायें थी । इन विद्यालयों द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्यलेखन विकसित होने लगा । मध्यवर्ग अंग्रेज़ी शिक्षा एवं सभ्यता से अपना कर्तव्य तथा अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत हो गये । "प्रायः दलील दी जाती है कि अंग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप देश में एकता की भावना पैदा हुई और जीवन की समस्याओं के संबन्ध में लोगों ने एक नये ढंग से सोचना आरंभ किया । उस समय इस शिक्षा के माध्यम से जिस बौद्धिक मध्यवर्ग का उदय हुआ उसके आदर्श ऊँचे थे । आगे चलकर उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्रीय, सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में किया ।"[1] भारतीयों को अंग्रेज़ी पढाने का अंग्रेजों मन्तव्य तो दफ्तरों के लिए देशी बाबूओं को तैयार करना था लेकिन भारतीयों में अपने राष्ट्र के प्रति लगाव बढने के लिए यह कारण बना । लोगों के आपसी संपर्क तथा भारत के ही विभिन्न स्थानों की जानकारी ने भी देशीय एकता एवं

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 439 - सं. डा. नगेन्द्र

राष्ट्रीयता बढाने में बहुत कुछ कार्य किया । अंग्रेज़ों द्वारा यातायात के जिन साधनों रेल -बस, स्टीम शिप - का आरंभ हुआ वह भी इसके लिए काफी था ।

1874 में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा स्थापित मुद्रण कार्य आरंभ, समाचार पत्रों का आरंभ आदि कार्य जनता को चेतनाजन्य बनाने तथा अपनी कठिनाइयों को समझने के लिए लाभदायक हुआ । पश्चिमी विचारों के बढते हुए प्रभाव ने जनता को अपनी संस्कृति के प्रति शंकालु बना दिया । डा. सुधीन्द्र ने कहा है -"नई सभ्यता का संपर्क और संसर्ग इस प्रकार भारत में उन्नति और उत्कर्ष का बीज कारण हुआ । सर्वांगीण दृष्टियों से सशक्त और समृद्ध जाति के संपर्क से ही इस देश की संस्कृति में नवचेतना की, राजनीति में स्वशासन की और स्वतंत्रता की, अर्थनीति में स्वावलम्बन और समृद्धि की, रीति-नीति में उन्नति और प्रगति की, साहित्यकला में नवजागरण और नवोत्थान की प्रक्रियायें गतिशील हुई ।"[1]

इन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच जनता में धार्मिक प्रतिक्रियायें भी दीख पडी । भारतीय जनता को पहले मुसलमान धर्म और बाद में ईसाई धर्म के संपर्क में आने का अवसर मिला । आधुनिकता को जनता पूर्ण रूप में अपना नहीं सकते थे और अपनी संस्कृति में

---

1. हिन्दी साहित्य में युगान्तर - पृ. 112 - डा. सुधीन्द्र

उन्हें गहरा ज्ञान भी नहीं था । इस अवस्था में भारतीय संस्कृति को नवोन्मेष देना, जनमानस में उनके प्रति श्रद्धा बढाना तथा आम जनता को उसका बोध कराना युग की आवश्यकता थी । इस क्षेत्र में अनेक शिक्षित लोगों ने पराधीनता में पिसी हुई भारतीय संस्कृति को बचाने के लिए विभिन्न रास्ता अपनाया । अनेक ऐसी संस्थाओं का आरंभ हुआ जिन्होंने जनता को धर्म एवं संस्कृति के प्रति लगाव पैदा करने और राष्ट्रप्रेम जगाने का कार्य किया । इन लोगों ने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को दूरकर भारत में नवोत्थान शुरू किया ।

इस क्षेत्र में राजाराम मोहनराय का नाम सबसे पहले आता है । 1828 में बंगाल में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की । अन्धविश्वासों और धार्मिक कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म को आधुनिक समाज के अनुरूप बनाने की कोशिश की । उनका लक्ष्य भारतीयों को शुद्ध, हिन्दू धर्म का ज्ञान देना, मूर्तिपूजा, सती प्रथा और सामाजिक कुरीतियों का विरोध करना था । उन्होंने विधवा विवाह तथा स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का समर्थन किया । विशेष सन्दर्भों में विदेशी सभ्यता को भी वे महत्वपूर्ण माना ।

1897 में प्रार्थना समाज की स्थापना महादेव गोविन्द रानडे ने की । सामाजिक रूढियों और अन्धविश्वासों का विरोध करते हुए उन्होंने सामाजिक समस्याओं को जाँचने का तथा उनका समाधान ढूँढने का प्रयास किया । अतीत के प्रति श्रद्धा होने पर भी वे अतीत को

उसी प्रकार पुन:प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता था । वे विश्वास करते थे कि समाज जीवित अवयवों का संघटन हैं जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है । इस प्रक्रिया के बन्द हो जाने पर समाज मुर्दा हो जाएगा । रनाडे ने मनुष्य की समानता, स्त्री-शिक्षा, जाति प्रथा आदि का विरोध अन्तर्जातीय विवाह आदि का समर्थन किया ।

श्री विवेकानन्द ने अपने गुरू श्री रामकृष्ण परमहंस के आदर्शों के प्रचार एवं प्रसार करने की कोशिश की जो भारतीय जनता को जागृत कराने में बहुत सफल हुई । विवेकानन्द योगी एवं ज्ञानी थे । असहायों के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी । 1893 में विवेकानन्द ने विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लिया । भारतीय संस्कृति एवं धर्म के बारे में शिकागो के विश्वधर्म अधिवेशन में उन्होंने जो भाषण दिया उसकी विदेशियों ने भी खूब प्रशंसा की । रामकृष्ण मिशन द्वारा अपने गुरू के आदर्शों एवं उपदेशों को फैलाना तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लडना उनका लक्ष्य रहा ।

1875 में आर्य समाज को स्थापित करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी आस्थावादी चेतना से भारतीय नवोत्थान को बहुत पुष्ट किया । ईसाई और मुसलमान धर्म प्रचारकों को आर्य समाज एक बडा आघात था । आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को एक नवोन्मेष प्रदान किया । भारतीय नवोत्थान को लक्ष्य करते हुए धार्मिक सामाजिक क्षेत्रों की इस संस्था ने बहुत बडी सेवायें की । उन्होंने वैदिक धर्म को सत्य और

सार्वभौम माना और अन्य धर्मों को अधूरा माना । आर्य समाज की अपनी एक उपचार संहिता थी जो सामाजिक भौतिक मूल्यों के आधार पर बनाई हुई थी । आर्य समाज को कार्यकर्ता पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के समर्थक भी थे ।

तियोसोफिकल सोसाइटि ने भी भारतीय नवोत्थान में बहुत योगदान दिया । न्यूयोर्क में 1875 में इसकी स्थापना हुई थी । आनी बसन्ट ने इसकी शाखा अडयार में प्रारंभ की । यह भारतीय धार्मिक परंपरा पर आधारित था । हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता की ओर ध्यान देकर इस संस्था ने सांस्कृतिक शैक्षणिक क्षेत्रों में अनेक कार्य किये ।

तत्कालीन समाज की इन परिस्थितियों ने साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया है । राष्ट्रीयता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, अतीत के प्रति गौरव का भाव, विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश, गाँव की बढती हुई गरीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतंत्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि पहलुओं को तत्कालीन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया । भारतेन्दु ने इन्हीं परिस्थितियों में अपना साहित्यक जीवन प्रारंभ किया था । उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भारतीयों को आत्मविश्वास, देश प्रेम तथा आदर्शों से पुष्ट करने को एक सफल प्रयास किया । डा॰ दशरथ ओझा के अनुसार "उस समय देश में नवजागरण का सूत्रपात हो गया था । धार्मिक विचारों पर स्वामी दयानन्द और

राजा राम मोहनराय का प्रभाव पड रहा था और राजनीतिक उथल-पुथल सन् 1857 की क्रांति के कारण हो चुकी थी । प्राचीन और नवीन विचारधाराओं के ऐसे संघर्षकाल में भारतेन्दुजी ने साहित्यक कार्य आरंभ किया ।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य की शुरूआत भारतेन्दु युग में होती है । खडीबोली में युगीन संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास भारतेन्दु से शुरू हो गया । भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने प्रमुखत: इतिहास और पुराण को अपने कथ्य का आधार बनाया । इन कथासूत्रों का उपयोग करते हुए रचनाकारों का उद्देश्य सामाजिक जागरण ही था । यह विशेष प्रवृत्ति भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं में स्पष्ट झलकती है । इन लोगों ने अपनी सोद्देश्यपरक रचनाओं में देशप्रेम, आदर्शवाद, वीरता आदि समाज के कल्याणकारी विषयों को अपनाया । ये नाटककार जहाँ एक ओर नवीन सभ्यता और संस्कृति को स्वीकार करते हुए अपने परंपरागत विश्वासों और नैतिक मूल्यों को नहीं बदलना चाहते थे, वहाँ दूसरी ओर वे अपने नाटकों के माध्यम से नवजागरण की पृष्ठभूमि में जनता का सांस्कृतिक उत्थान करना चाहते थे । यह एक आदर्शवादी प्रवृत्ति थी और इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी नाटककारों ने पौराणिक नाटकों की रचना की । इसमें

---

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ. 119 - दशरथ ओझा

उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक प्रश्नों पर व्यंग्य किया है । पौराणिक नाटकों में रामायण और महाभारत को आधार बनाकर प्राचीन भारतीय संस्कृति की गौरव गरिमा स्थापित की गई । ऐतिहासिक नाटकों में जाति-प्रतिष्ठा एवं स्वाभिमान का स्वर मुखर हुआ । इस उद्देश्यपरक रचना के बारे में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने "नाटक" नामक निबन्ध में स्पष्ट लिखा है कि "नवीन नाटकों की रचना का मुख्य उद्देश्य ये होते हैं । यथा श्रृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार और देश वत्सलता । श्रृंगार और हास्य प्रसिद्ध हैं । कौतुक विशिष्ट वह हैं जिसमें लोगों के चित्त विनोदार्थ किसी भंग विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जाता । समाज संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों को दिखलाना मुख्य कर्तव्य है कर्म है । तथा शिक्षा की उन्नति, विवाह संबंधी कुरीति निवारण अथवा धर्म संबंधी अन्याय विषयों में संशोधन आदि । ..... देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढनेवालों या देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और वह प्रायः करूण और वीर रस के होते हैं ।"[1]

भारतेन्दु के नाटक "धनंजय विजय", "सत्य हरिश्चन्द्र", "चन्द्रावली", "सती प्रताप" आदि पुराण से बुने हुए हैं । "सती प्रताप" में धर्म की महिमा चित्रित करने के लिए उन्होंने महाभारत के सत्यवान सावित्री के उपाख्यान को चुन लिया । तत्कालीन भारत में सत्य के आदर्श का ह्रास होते देखकर उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की रचना की । भारतेन्दु ने ही स्वयं नाटक के उपक्रम में लिखा है कि "इस भारतवर्ष में उत्पन्न और

---

1. नाटक (निबंध) - पृ. 13 - भारतेन्दु

इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुषों में महाराज हरिश्चन्द्र भी थे । यह समझकर नाटक को पढनेवाले कुछ लोग भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सफल होगा ।"[1] श्रीमत् भागवत से भारतेन्दु ने चन्द्रावली नाटिका की कथा अपनायी । इसमें कृष्ण के प्रति चन्द्रावली का प्रेम दिखाकर प्रेमसिद्धांत को प्रतिपादित करना लेखक का लक्ष्य रहा ।

"धनंजय विजय" नाटक का कथानक भी महाभारत से लिया गया है । इसमें अर्जुन द्वारा कौरवों को परास्त कर गायों को छुडा लाना तथा बाद में उत्तरा-अभिमन्यू विवाह का निश्चित होना वर्ण्य विषय है ।

भारतेन्दु के ऐतिहासिक नाटक हैं अंधेर नगरी, भारत दुर्दशा, और नीलदेवी । अन्धेर नगरी का कथानक लोककथाओं से मिलने जुलनेवाला है । इस लोककथा से भारतेन्दु ने अंग्रेज़ नौकरशाही पर प्रहार किया है । यह नाटक भारत की तत्कालीन परिस्थितियों पर अपने व्यंग्यात्मक लेखन से चोट करता है । नाटक की रचना के उद्देश्य के बारे में डा. सत्येन्द्रकुमार सिंह ने कहा है कि "ऐसे समाज के चित्रण द्वारा भारतेन्दु ने जनता के हृदय में तत्कालीन बुराइयों का प्रत्यक्ष बोध कराने में सहृदयतापूर्वक सहायता की है ताकि जनता अपने कर्तव्य को निबाहने में

---

1. सत्य हरिश्चन्द्र- उपक्रम - पृ. 8 - भारतेन्दु

भरसक प्रयत्नशील बनी रहे तथा अपने सम्मुख उपजी हुई विषम परिस्थितियों का मुकाबला दृढ़तापूर्वक करती रहे ।"[1]

"नीलदेवी" भारतेन्दु का गीति रूपक है । इसमें धर्मनीति और राजनीति का सामंजस्य तथा हिन्दु ललना की शूरवीरता दिखाई गई है । नाटक का समर्पण करते हुए भारतेन्दु ने इस नाटक के उद्देश्य के बारे में ऐसा कहा है कि "जिस प्रकार अंग्रेज़ स्त्रियाँ अपना स्वत्व पहचानती है, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति विपत्ति को समझती हैं उसमें सहायता होती है उसी भांति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके, कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है ।"[2] इस उद्देश्य से पंजाब के राना सूर्य देव की पत्नी नीलदेवी का शौर्य इस नाटक में दिखाया गया है । डा. भानुदेव शुक्ल के अनुसार "इस ऐतिहासिक नाटक में भारतेन्दुजी दीन हीन तथा परतंत्र नारी जाति को स्वतंत्र निर्भीक तथा पुरुषों की सहयोगिनी के रूप में व्यवहार करने का सन्देश देते हैं । नारी केवल भोग्या ही नहीं है प्रत्युत अपने चरित्र एवं साहस द्वारा वीरांगना बनकर स्वदेश एवं समाज के गौरव गरिमा की रक्षा करने की सामर्थ्य भी रखती है ।"[3]

भारतेन्दु के साहित्यक व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिभा ने उनके समकालीन नाटककारों को प्रभावित किया । अनेक नाटककारों ने

---

1. भारतेन्दु के प्रमुख नाटक - पृ. 70 - डा. सत्येन्द्र सिन्हा
2. नीलदेवी - भूमिका - भारतेन्दु
3. भारतेन्दु के नाटक - पृ. 61 - भानुदेव शुक्ल

इनकी नाट्यरचना के अनुगामी बनते हुए रचनायें की जिनका उद्देश्य भी भारतेन्दु के समान ही था । "इन लेखकों ने भारतेन्दु द्वारा किए गए काम को तन मन से पूरा करने का प्रयत्न किया । फलस्वरूप इस काल के साहित्य, विशेषत: नाटकों में भारतेन्दु के साहित्यक व्यक्तित्व का चतुर्दिक विस्तार उपलब्ध होता है । भारतेन्दु का साहित्यक व्यक्तित्व अतीत के सांस्कृतिक और नैतिक महिमा के बोध और वर्तमान की कटुतम वास्तविकता का अनुशीलन करने से निर्मित हुआ था, जिसमें आदर्श की निष्ठा और यथार्थ के सतर्क आग्रह था दोनों का योग था और जिसके समुद्र के समान गंभीर किन्तु उद्वेलित अन्त:स्थल में अनेक भावधारायें एक साथ आकर मिल गयी थी ।"[1]

लाला श्रीनिवास दास :

भारतेन्दु के समकालीन नाट्यकारों में लाला श्रीनिवास दास का प्रमुख स्थान है । उन्होंने चार नाटक लिखे - "प्रह्लाद चरित", "तप्ता संवरण", "रणवीर प्रेममोहिनी" और "संयोगिता स्वयंवर" । प्रह्लाद चरित्र का प्रारंभ वैकुंठ के दृश्य से होता है । द्वारापाल जयविजय एवं सनकादि ऋषियों को रोकने के कारण शापग्रस्त बनते हैं । यहाँ से कथा प्रारंभ होती है और प्रह्लाद का पूरा चरित्र दिखाकर नृसिंह अवतार होने के उपरान्त समाप्त होती है । "तप्ता संवरण" में तप्ता और संवरण की पौराणिक प्रेमकथा है । लाला श्रीनिवास दास का तीसरा नाटक है "रणधीर प्रेममोहिनी" । इसका कथानक ऐतिहासिक

---

1. नाटककार भारतेन्दु और उनका युग - पृ. 155 - कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह

लगने पर भी कल्पित ही है । उनका चौथा नाटक "संयोगिता स्वयंवर" है जिसका आधार पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता के हरण की घटना है ।

प्रताप नारायण मिश्र :

प्रताप नारायण मिश्रजी ने "भारत दुर्दशा" नामक रूपक लिखा जो भारतेन्दुजी के "भारत दुर्दशा" की शैली का है । मिश्रजी ने अभिज्ञान शाकुन्तल का स्वतंत्र अनुवाद किया । उनके कलिकौतुक नामक नाटक में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचा गया है । "गोसंकट", "कलि प्रभाव" तथा "जुआरी कुआरी" इनकी अन्य रचनायें हैं । "हठी हम्मीर" नामक नाटक में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और हम्मीरसिंह की वीरता का चित्र खींचा है ।

राधाकृष्ण दास :

अपनी ऐतिहासिक कृतियों के कारण राधाकृष्ण दास का भारतेन्दु युग में श्रेष्ठ स्थान है । "दुखिनीबाला" रूपक उनकी पहली रचना है । "महारानी पद्मावती" और "महाराणा प्रतापसिंह" दोनों ऐतिहासिक हैं । "महाराणा प्रताप" में महाराणा और अकबर की दृढ़ता, मानसिंह, सलीम और मुहब्बत खां के आक्रमण की विभीषिका तथा राजनीतिक चालों में अकबर की कूटनीति, मानसिंह के महाराणा के प्रति

देष आदि अनेक प्रसंग आ गये हैं । "महारानी पद्मावती" में चितौड की महारानी पद्मावती और महाराणा रत्नसेन की गौरव गाथा नाटक के रूप में प्रस्तुत की गयी है । उनका और एक नाटक "धर्मलाप" भारत के नाना धर्मों को लेकर लिखा गया है ।

बालकृष्ण भट्ट :

बालकृष्ण भट्ट ने अनेक छोटे-मोटे नाटक लिखे हैं । इनके ऐतिहासिक नाटक हैं "वेणु संहार" और "दमयन्ती स्वयंवर" । वेणु संहार नाटक में राजा वेणु के अत्याचारों से ग्रस्त प्रजा की दयनीय परिस्थिति तथा ऋषि शाप द्वारा राजा की मृत्यु चित्रित की गयी ।

राधाचरण गोस्वामी :

राधाचरण गोस्वामी की प्रमुख रचनायें हैं "सती चन्द्रावली", "अमरसिंह राठौर" और "श्रीदामा" । सती चन्द्रावली नामक नाटक में एक वीर युवति के चरित्र का चित्रण है । जो राजकीय सुखों को त्यागकर अपने धर्म में अडिग रहना चाहती है और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए युद्ध में भाग लेकर स्वयं अग्नि में भस्म हो जाती है । अमरसिंह राठौर का कथानक भी इतिहास पर आधारित है । राजा अमरसिंह का वीरत्व प्रदर्शन ही इस नाटक का उद्देश्य लगता है । वीर अमरसिंह का युद्ध में आहत होना, उसकी पत्नी द्वारा उसका शव ढूँढना और स्वयं चिता पर

जल जाना इसका कथानक है ।

अम्बिकादत्त व्यास :

ललित नाटिका, गोसंकट नाटक, कलियुग और घी, मन की उमंग और भारत सौभाग्य इनकी रचनायें हैं । इनकी रचनायें सामाजिक है और हिन्दु धर्म के प्रति अनुराग एवं स्वदेश प्रेम इसकी रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य है ।

काशीनाथ खत्री :

खत्रीजी का "तीन परम मनोहर इतिहास रूपक" रचना तीन ऐतिहासिक रूपकों का संग्रह है । पहला रूपक "सिंधु देश की राजकुमारियों" में खलीफा की कामुकता और कठोरता तथा भारतीय नारी के धैर्य साहस और त्योग के चित्र प्रस्तुत किये हैं । दूसरा रूपक "गुढ्ढौर की रानी" में मुस्लिम सेनापति शेरखां की कामुकता तथा निर्दयता को ही स्पष्ट किया है । तीसरा रूपक "लवजी का स्वप्न" रघुवंश के आधार पर लिखा हुआ है ।

इन नाटककारों के अलावा अन्य अनेक लेखकों ने तत्कालीन युग को अपनी अपनी नाट्य रचनाओं से संपुष्ट किया है । इनमें प्रमुख है पं. बदरी नारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं. केशवराम भट्ट, पं. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, पं. भीमसेन शर्मा, कार्तिक प्रसाद खत्री और फेडरिक जिन्काट आदि ।

भारतेन्दु के समकालीन नाट्यकार भारतेन्दु से अवश्य प्रभावित हैं । इसलिए ही उनकी रचनाओं में भी भारतेन्दु की उद्देश्यपरक रचनाओं की झलक मिलती है । ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों द्वारा इन रचनाकारों का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का प्रचार और आत्मगौरव का बोध था । गणपति चन्द्रगुप्त ने लिखा है "पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना के मूल में अतीत की घटनाओं एवं पात्रों के आधार पर अपने युग के पाठकों को साहस, शौर्य, त्याग, आत्म बलिदान आदि उदात्त नैतिक तत्वों की शिक्षा देना लक्ष्य रहा है ।"[1]

आगे चलकर द्विवेदीयुगीन रचनाकार भी भारतेन्दु से प्रभावित रहें । लेकिन इस युग में नाट्य साहित्य के क्षेत्र में कोई विशेष योगदान नहीं हुआ । जिन प्रमुख नाटकों की रचना हुई उसमें अधिकांश पौराणिक थे । द्विवेदी युग की अवधि अन्य युगों की अपेक्षा कम रही । सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कोई भी परिवर्तन नहीं आया था । बंगाल विभाजन का आन्दोलन बंगाल में ही सीमित रहने के कारण देश व्यापक रूप में कोई हलचल नहीं हुआ । इसके बावजूद जिस प्रकार सक्रियता सजीवता भारतेन्दु युग में नाटक के क्षेत्र में हुई वह द्विवेदी युग में नहीं हो पाई । द्विवेदी युग में इसलिए सीमित, ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों की रचना ही हुई ।

---

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - पृ. 380 - गणपति चन्द्रगुप्त

बदरीनाथ भट्ट ने "कुरुवन दहन" नामक नाटक की रचना की । श्री हर्ष के "वेणी संहार" नाटक के आधार पर यह लिखा गया । इसकी नायिका द्रौपदी है । बदरीनाथ की ऐतिहासिक रचनायें हैं दुर्गावती, चन्द्रगुप्त और तुलसीदास । पं. बलदेवप्रसाद मिश्र ने "प्रभास मिलन" और "राजा ययाति" तथा मीराबाई और शंकर दिग्विजय नाटक रचे । जमुनादास मेहरा ने विश्वामित्र, मोरध्वज, कृष्णसुदामा, देवसंग्राम, देवयानी, भक्त चन्द्रहास, सती चिन्ता नाम नाटकों की सृष्टि की जिनका आधार भी पुराण है । मैथिली शरणगुप्त ने पौराणिक सन्दर्भ में "तिलोत्तमा" और चन्द्रलेखा नाटक लिखे । पं. माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध और सोमेश्वर दत्त शुक्ल का "सावित्री सत्यवान", अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का "रुक्मिणी परिणय" नाटक और श्री प्रद्युम्न विजय व्यायोग आदि रचनायें भी इस काल में हुई । इन नाटकों के अलावा अन्य नाटक हैं विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक का "भीष्म", मिश्रबन्धु के "पूर्व भारत", "उत्तर भारत", सुदर्शन के "अंजना" और "दयानन्द" तथा पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का "महात्मा ईसा" । "महात्मा ईसा" नाटक इस युग की बहुचर्चित रचना है जिसे विशेष सफलता प्राप्त हुई थी ।

द्विवेदीयुगीन नाटकों से यही बात स्पष्ट हो जाती है कि ये नाट्य रचनायें भी भारतेन्दुकालीन नाट्य रचनाओं के समान सोद्देश्यपरक ही थी । सावित्री सिन्हा ने कहा है कि "द्विवेदी युग में भी नाटकों का उद्देश्य पाठकों एवं सामाजिकों का चरित्र बल दृढ़ करना था । द्विवेदी स्वतः आदर्शवादी थे अतः अन्य साहित्यकारों पर भी

उनका स्वस्थ प्रभाव पडना स्वाभाविक था ।[1]

जयशंकर प्रसाद :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा ऐतिहासिक पौराणिक नाट्यधारा का सूत्रपात हुआ था लेकिन उस धारा को हिन्दी नाट्य साहित्य में हृष्टपुष्ट करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है । इस कारण से प्रसाद युग को ऐतिहासिक पौराणिक नाट्यधारा के इतिहास में मील का पत्थर माना जा सकता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान युग की पुकार से जयशंकर प्रसाद भी अभिज्ञ था । स्वतंत्रता संग्राम का संघर्ष, गाँधीजी की राष्ट्रीय भावना तथा तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों ने प्रसाद को आदर्शवादी एवं प्रेरणापरक नाट्य रचना प्रारंभ करने के लिए बाध्य कर दिया । प्रसादजी महात्मागाँधी द्वारा संचालित आन्दोलन में यद्यपि सक्रिय भाग नहीं लेते थे, किन्तु उनके सिद्धांतों से सहमत होने के कारण अपने सुसंस्कृत नाटकों में उनके विचारों का सन्निविष्ट करते जाते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी तत्कालीन समस्याओं को सुलझने के लिए अतीत की शरण लेते हैं और उस काल की घटनाओं को अपने नाट्य कौशल से ऐसा सँवार देते हैं, जिससे हमारा अतीत हमारी श्रद्धा का पात्र बन जाता है ।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - पृ. 26 - सावित्री सिन्हा
2. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ. 109 - दशरथ ओझा

प्रसाद का लक्ष्य गरिमामयी भारत के अतीत को सामने रखते हुए भारतीयों के मन में अपनी भूमि के प्रति श्रद्धा, एवं गर्व, स्वाधीनता के लिए लडने का आवेश और विदेशियों से घृणा उत्पन्न करना था । स्वयं वे कहते हैं "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है । क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढकर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह हैं । ..... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने को बहुत प्रयत्न किया है ।"[1]

युगीन चेतना के लिए उपयुक्त रूप में प्रसाद ने इतिहास को प्रस्तुत किया । वे समन्वयवादी हैं । इतिहास और कल्पना का सामंजस्य जिसप्रकार उन्होंने अपनी कृतियों में किया था वह आज तक और कोई नाटककार न कर सके । प्रसाद के नाटकों से हम यह समझ सकते हैं कि उन्होंने इतिहास का गंभीर अध्ययन किया है । लेकिन घटनाओं को तीक्ष्णता देने के लिए उन्होंने कल्पना का सहारा भी लिया है । जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन इसका प्रमाण ही है " जहाँ तक संभव हुआ है इतिहास की मूल प्रकृति का अनुसरण किया गया है और सुसंबद्धता स्थापित की गयी परन्तु जहाँ कल्पना का प्रयोग नितान्त आवश्यक हो गया है वहाँ नाटककार की

---

1. विशाख - (भूमिका) - जयशंकर प्रसाद

स्वतंत्रता का भी प्रसाद ने उपयुक्त आश्रय लिया है ।"[1] प्रसाद ने वैदिककाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास को अपने नाटकों का कथ्य बनाया । इसलिए रामकुमार गुप्त ने कहा है कि "संस्कृति यदि प्रसादजी के नाटकों की आत्मा है तो अतीत का गौरवशाली इतिहास उनका स्वस्थ शरीर ।"[2] इसका कारण यह है कि तत्कालीन भारतीय परिस्थिति में जनता को संघर्ष निरत बनाने के लिए प्रसाद सांस्कृतिक उत्थान को अधिक उपयोगी समझते थे । उनके कल्याणालय नामक नाटक में वैदिक काल, जनमेजय का नागयज्ञ में उपनिषत्काल, सज्जन का महाभारत काल, अजात शत्रु तथा विशाख में बौद्धकाल, चन्द्रगुप्त में यूनानियों के आक्रमण काल, स्कन्दगुप्त में हूण विद्रोह काल, राज्यश्री में हर्षकाल का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है । ऐतिहासिक प्रसंगों को लेकर रचना करने पर भी उनका हर नाटक आदर्शोन्मुखी लक्ष्य से निर्भर है । उनके नाटकों के चरित्र शूर वीर त्यागी, आदर्शवान तथा कर्म पर विश्वास रखनेवाले होते हैं । अतीत के उन वीर चरित्रों की कथा प्रस्तुत कर जनता को अपने देश की रक्षा के लिए उत्तेजित करना प्रसाद का लक्ष्य था । प्रसाद के प्रमुख तीन नाटक हैं स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी । इसमें स्कन्दगुप्त का कथ्य कुमारगुप्त के राज्यकाल की घटनाओं और चरित्रों के आधार पर हुआ है । विदेशियों से और हूणों से युद्ध करके अपने देश की रक्षा करनेवाले और उसे एकता के सूत्र में बाँधनेवाले स्कन्दगुप्त की वीरता एवं देशप्रेम का तेजोमयी चित्रण इसमें हुआ है । स्कन्दगुप्त के इस ऐतिहासिक कथानक से यह स्पष्ट निकलता है कि प्रसाद का लक्ष्य अपने देश को विदेशियों के हाथ से छुडाने का आवेश जनता में भरना है ।

---

1. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - पृ. 240 - जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
2. आधुनिक हिन्दी नाटककार - पृ. 22 - डा. रामकुमार गुप्त.

"वर्तमान को दृष्टिपथ में रखकर राष्ट्रीय भावना और देशप्रेम के अनुरूप पात्रों को गढने में प्रसादजी को अद्भुत सफलता मिली है । संपूर्ण नाटक में राष्ट्रीय भावना सागर-सा उमड़ रही है । विषम परिस्थितियों में विरोधी व्यक्तियों के बीच धूमकेतु-सा स्कन्दगुप्त, आक्रमण षड्यंत्र और गृह कलह के भीषण अन्धकार में प्रज्वलित हो उठता है ।"[1] स्कन्दगुप्त में प्रसाद ने मनुष्य को पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग भी प्रस्तुत किया । इस ऐतिहासिक नाटक की और एक विशेषता यह रही कि इसमें राजनीतिक घटनाओं के साथ साथ पारिवारिक घटनाओं को भी प्रभावपूर्ण रूप में समाया है । डा. सावित्री सिन्हा ने कहा है कि "स्कन्दगुप्त में छायावादी रोमानी काल्पनिक चेतना दार्शनिक नैतिक रागात्मक संवेदना में परिणत हो गयी और पुरानी समस्याओं और संवेदनाओं के साथ उसका तादात्म्य हुआ ।"[2]

"चन्द्रगुप्त" नाटक में मौर्यवंश के प्रथम शासक चन्द्रगुप्त द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना के इतिहास को चित्रित किया गया है । "इस ऐतिहासिक नाटक में ग्रीक आक्रमण से भारत की रक्षा चाणक्य के नीतिकौशल के द्वारा प्रदर्शित है ।"[3] चन्द्रगुप्त ने यवनों द्वारा भारत की चढाई को रोक दिया । इस ऐतिहासिक घटना को प्रस्तुत करते हुए प्रसाद का लक्ष्य विदेशियों से भारत की मुक्ति और एक-छत्र भारतीय राज्य की पुनर्स्थापना है । रामकुमार गुप्त के अनुसार "चन्द्रगुप्त भारत की

---

1. हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर - पृ. 65 - डा. रामकुमार गुप्त
2. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - पृ. 166 - डा. सावित्री सिन्हा
3. हिन्दी नाटक कोश - पृ. 150 - डा. दशरथ ओझा

पराधीनअवस्था में लिखा गया है और इसमें प्रसाद जी भारतवर्ष की समसामयिक वस्तुस्थिति से इतने प्रभावित दिखाई देते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक का उद्देश्य मानो किसी ऐतिहासिक नाटक का न होकर सामाजिक नाटक का भी उद्देश्य हो गया है । राष्ट्रीय भावना के उद्बोधन द्वारा सुदृढ़ भारतीय राष्ट्र की स्थापना ही "चन्द्रगुप्त" के लेखक का अभीष्ट है ।"[1] भारत की गौरव गरिमा को तथा उस संस्कृति श्रेष्ठता को भी दिखाने का प्रयास उन्होंने किया है । चन्द्रगुप्त नाटक द्वारा भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठ दिखलाने की कोशिश भी उन्होंने किया है । "चन्द्रगुप्त में स्थूल रूप से तो दो यूनानी आक्रमणों से भारतीयों द्वारा स्वदेश की रक्षा - इस राजनीतिक संघर्ष की कहानी है, परन्तु लेखक ने स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे संकेत किये हैं जिनसे लगता है कि वह यूनान और भारत, दोनों देशों की संस्कृतियों का भी तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर दर्शकों को देता है और स्वयं यूनानियों द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रशंसा के रूप में इसकी श्रेष्ठता भी घोषित करवा देता है ।"[2]

जयशंकर प्रसाद की नाट्य कृति "ध्रुवस्वामिनी" गुप्तकालीन इतिहास पर आधारित है । समुद्रगुप्त का दूसरा बेटा रामगुप्त के शासनकाल में शकों द्वारा आक्रमण तथा ध्रुवस्वामिनी का अपहरण और बाद में समुद्रगुप्त का दूसरा बेटा चन्द्रगुप्त द्वारा कुल की मर्यादा की रक्षा और ध्रुवस्वामिनी

---

1. हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर - पृ.47 - रामकुमार गुप्त
2. प्रसाद के तीन नाटक - पृ.160 - डा.प्रेम नारायण टण्डन

एवं चन्द्रगुप्त के विवाह आदि प्रसंग इसमें सम्मिलित हैं । इस अतीत कथानक द्वारा प्रसाद ने समाज में शोषण की शिकार बननेवाली नारी के संघर्ष को भी वाणी दी है । प्रसाद जी नारी मुक्ति एवं उसके पुनर्विवाह को अयोग्य नहीं समझते हैं और साथ ही साथ नारी को अपने अधिकारों के प्रति सजग भी बना देते हैं । नारी जीवन के संघर्ष तथा विद्रोह ही इसमें उभरकर आते हैं । डा. प्रभाकर श्रोत्रीय ने अपनी पुस्तक "जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता" में ऐसा कहा है कि "प्रसाद युग में (और आज भी) स्त्री की स्वाधीनता और शोषण मुक्ति की समस्या समाज के केन्द्र में है । "ध्रुवस्वामिनी" में प्रसाद ने जिस समस्या को छुआ और अन्त तक निबाहा, वह उस युग का असाधारण जोखिम था । हिन्दू कोडबिल तो बड़ी कठिनाई से छठे दशक में हिन्दु स्त्री को तलाक और पुनर्विवाह का संवैधानिक अधिकार देता है, परन्तु प्रसाद जैसा सृष्टा उसे तीसरे दशक में ही यह अधिकार दे देता है और वह भी शताब्दियों पूर्व के धर्मशास्त्रीय प्रमाण देकर ।"[1]

"अजातशत्रु" नाटक भी प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार पर लिखा है । चार राज्यों में होनेवाली घटनाओं को प्रसाद ने इसमें दिखाया है । नाटक द्वारा प्रसाद का उद्देश्य सामाजिक क्षेत्र में क्रांति तथा सुधार ही है । डा. दशरथ ओझा ने इस संदर्भ में "हिन्दी नाटक उद्भव और विकास" नामक ग्रंथ में कहा है कि "इस नाटक में सर्वत्र क्रांति का विकट घोष सुनाई पडता है वह क्रांति राजनैतिक क्षेत्र में अभिजात वर्ग के विरुद्ध निम्नवर्ग

---

1. जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता - पृ. 13-14 - प्रभाकर श्रोत्रीय

की है, धार्मिक क्षेत्र में रूढिवाद के विरुद्ध सुधारवाद की है, कौटुम्बिक क्षेत्र में पुरुषों के प्रति स्त्रियों की है ।"[1]

ऐतिहासिक चरित्र राज्यश्री को केन्द्र बनाकर प्रसाद ने "राज्यश्री" नाटक का चयन किया है । इसकी कथा मालवा, स्थाणेश्वर, कन्नौज और मगध की राजपरिस्थितियों से जुडी हुई है । एक वीर नारी के रूप में राज्यश्री को चित्रित किया गया है । राज्यश्री के चरित्र द्वारा भारतीय संस्कृति की गरिमा को प्रसाद ने वाणी दी है ।

जयशंकर प्रसाद के "विशाख" नाटक कल्हण कृत राजतरंगिणी का आरंभिक अंश पर आधारित है । इस नाटक में राज्य, धर्म, जाति और व्यक्ति के पारस्परिक संघर्ष तथा राज्य और धर्म द्वारा व्यक्ति का नष्ट हो जाने की बात को लिया गया है । समाज में निम्न जाति के शोषण के प्रति उत्पन्न विद्रोही स्वर प्रसाद ने इसमें उठाया है ।

प्रसादजी का पौराणिक नाटक है "जनमेजय का नागयज्ञ"। महाभारत को आधार बनाकर इनकी रचना की है । जनमेजय का सर्पयज्ञ

---

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ. 192 - दशरथ ओझा

तथा तक्षशिला विजय और नागजाति के संहार और ब्रह्म हत्या के प्रायश्चित्त स्वरूप राजा जनमेजय ने जो अश्वमेध यज्ञ किया आदि का उल्लेख इस नाटक में हैं । नागजाति का विद्रोह और तत्पश्चात् जनमेजय के साथ उनकी सन्धि तथा मैत्री स्थापना तब इसके अन्तर्गत आते हैं । नागजाति के माध्यम से अपने देश के प्रति और अपने धर्म के प्रति आस्था दर्शायी गयी हैं । तत्कालीन युग में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाले संघर्ष को भी प्रसाद ने इसमें समाया है ।

अपनी ऐतिहासिक एवं पौराणिक रचनाओं से प्रसाद ने हिन्दी नाट्य साहित्य को जितना संपन्न बनाया उतना उनके समकालीन रचनाकार नहीं कर सके । प्रसाद की अध्ययनशीलता और मननशीलता तथा प्रतिभा-संपन्न व्यक्तित्व ही इसका कारण था । उनके परवर्ती नाटककारों की दृष्टि भी प्रसाद के समान सुधारवादी एवं आदर्शवादी है । प्रसाद परंपरा को आगे बढाने में हरिकृष्णप्रेमी, गोविन्द वल्लभ पन्त, डा. रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि नाटककारों के नाम महत्वपूर्ण हैं ।

हरिकृष्ण प्रेमी :

जयशंकर प्रसाद के परवर्ती नाटककारों में सबसे प्रमुख स्थान हरिकृष्ण प्रेमी का है । राष्ट्रीय एकता ही उनकी रचना का

मुख्य लक्ष्य रहा । उनकी रचनाओं में गाँधीवाद की स्पष्ट झलक भी मौजूद है । उनकी नाट्यरचनाओं के बारे में जगन्नाथ नलिन ने "हिन्दी नाटककार" नामक ग्रंथ में कहा है कि " ऐतिहासिक कथाओं में प्रेमी ने गाँधीवादी राष्ट्रीय को प्राण प्रतिष्ठा की है । गाँधीवाद का प्रभाव प्राय: उनके सभी नाटकों में स्पष्ट है - यहाँ गाँधीवादी राष्ट्रीयता का आदर्श प्रेमी के नाटकों की प्रेरणा है । उसके युग और जीवन की आकुल सजगता उसकी प्रेरणा की पृष्ठभूमि है ।"[1] प्रेमीजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक है । उन्होंने मुसलमान एवं राजपूत काल के इतिहास को अपने नाटकों के कथानक के रूप में चुना । प्रमुख रूप में हिन्दु-मुसलमान दोनों की एकता पर प्रेमीजी ने अपने नाटकों में ज़ोर दिया है । इस विषय के बारे में स्वयं उन्होंने "शिव साधक" नाटक की भूमिका में लिखा है " पंजाब में ज्ञान के बाँसुरी और कर्म का शांस फूँकनेवाली बहन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दी और उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग करनेवाला साहित्य तो बहुत बढ रहा है, उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोडे साहित्यकार कर रहे हैं । तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए । इसी लक्ष्य को सामने रखकर मैं ने रक्षाबन्धन नाटक लिखा । शिव साधना के रूप में इस दिशा में मेरा यह दूसरा पग है ।"[2]

हरिकृष्ण प्रेमी का "रक्षाबंधन" चित्तौड पर बहादुर शाह

---

1. हिन्दी नाटककार - पृ. 40 - प्रो. जगन्नाथ नलिन
2. शिवसाधना (भूमिका) - हरिकृष्ण प्रेमी

के आक्रमण के ऐतिहासिक घटना पर आधारित है । कर्मवती द्वारा हुमायूँ को राखी भेजना तथा हुमायूँ द्वारा उस बहिन कर्मवती की रक्षा ही इसका कथानक है । प्रेमी जी के गाँधीवादी आदर्श, आत्मोत्सर्ग, देशोद्धार तथा हिन्दु मुस्लिम एकता को बढाने का स्वर इस में मौजूद है । धर्म निरपेक्षता की स्थापना ही नाटक का मूल उद्देश्य है । प्रेमी जी के "शिव साधना" नाटक में भी ऐतिहासिक घटनायें संकलित हुई हैं । "शिव साधना" शिवजी की स्वाधीनता संघर्ष की कहानी है । शिवजी जैसे आदर्शवान, शूरवीर चरित्र को प्रस्तुत कर देश की स्वतंत्रता की महत्ता को उन्होंने वाणी दी है ।

"स्वप्न भंग" नाटक की कथा दारा के अन्तिम दिनों में औरंगज़ेब के साथ उनके संघर्ष की है । दारा हिन्दु-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है लेकिन अपनी छोटी बहिन रोशनआरा के षड्यंत्र से उसका स्वप्न अधूरा ही रह जाता है । स्वप्नभंग नाटक की भूमिका में हरिकृष्ण प्रेमी ने लिखा है "मैं ने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है । मेरे इन लघु यत्नों को राष्ट्रयज्ञ में क्या स्थान मिलेगा यह मैं नहीं जानता । यह नाटक भी राष्ट्रयज्ञ में डाली गयी एक आहुति है ।"[1] प्रतिशोध नाटक में वीर बुन्देला छत्र साल की कहानी है । बुन्देलों की बिखरी हुई शक्ति को वह फिर से संचित करता है और सम्राट औरंगज़ेब का विरोध भी करता है ।

---

1. स्वप्नभंग - भूमिका - हरिकृष्ण प्रेमी

यह नाटक "छत्र-प्रकाश" पर आधारित है । हरिकृष्ण प्रेमी ने लिखा है "विंध्याचल की तलहटी भूमि में न जाने कितनी वीर गाथायें सो रही हैं । इन्हें कौन जगावे ?"[1]

"उद्धार" नाटक में राजपूत वीरों द्वारा अपने देश की रक्षा और मान को कायम रखने के लिए आत्मबलिदान का चित्रण है । इस ऐतिहासिक घटना से लेखक यह कहना चाहता है कि शक्तिशाली नेता के बिना देश की स्वतंत्रता संभव नहीं है । नाटक में राष्ट्रीयता की जो प्रेरणा है उसके बारे में प्रेमीजी ने लिखा है कि "मेरा देश स्वतंत्र हो गया किन्तु देशवासियों ने अभी तक राष्ट्रीयता के महत्व को समझा नहीं है । इसलिए राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्साहित करनेवाले साहित्य की आज आवश्यकता है ।"[2]

"शपथा" नाटक में नायक विष्णुवर्धन जनता को उत्तेजित करके विश्वविजयी हूणों को पराजित करता है और देश को स्वतंत्रता प्रदान करता है । इस नाटक की ऐतिहासिकता के बारे में श्री विश्वनाथ प्रसाद दीक्षित "बटुक" ने कहा है कि "नाटक में भारतीय इतिहास के आधार पर भारतीयों के उन गुणों और संस्कारों का उल्लेख है, जिनके कारण भारत

---

1. प्रतिशोध - भूमिका - हरिकृष्ण प्रेमी
2. उद्धार - भूमिका - हरिकृष्ण प्रेमी

तेजस्वी वीर और बलवान बना तो उन निर्बलताओं और त्रुटियों का भी जिनके कारण भारत को अनेक बार विदेशी शक्तियों से पराजित होना पडा । इस प्रकार पात्रों के चरित्र गुण और संस्कारों की संरक्षा करता हुआ यह नाटक भी ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण है ।"[1]

कीर्तिस्तंभ नाटक मेवाड के महाराणा रायमल के पुत्रों के बीच संघर्ष की कथा है । युवराज पद के लिए ये तीनों आपस में संघर्ष करता है । यह प्रतिस्पर्धा ही नाटक में उभारा गया है । नाटक की भूमिका में नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ने कहा है "मैं ने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है । प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है । मैं ने बार बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा । उन गुणों को ग्रहण करें जिन्होंने हमें अभी तक जीवित रखा फिर स्वतंत्र किया ।"[2] "विदा" नाटक अकबर के धर्मनिरपेक्ष व्यक्तित्व की ओर प्रकाश डालता है । राष्ट्रीय एकता को लक्ष्य करते हुए लिखे गये इस नाटक की भूमिका में नाटककार प्रेमीजी यह स्वीकार करते हैं "भारतीय इतिहास के उन कथानकों पर जिनसे इस विशाल देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की प्रेरणा प्राप्त हो, कुछ नाटक लिखने का प्रयास मैं ने किया है ।"[3]

---

1. नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी - व्यक्तित्व और कृतित्व - पृ. 22
2. कीर्तिस्तंभ (भूमिका) - हरिकृष्ण प्रेमी
3. विदा (भूमिका) - हरिकृष्ण प्रेमी

इन प्रमुख नाटकों के अलावा उनके अन्य ऐतिहासिक नाटकों में भी उनका लक्ष्य राष्ट्रीय एकता एवं धर्म निरपेक्षता ही है । शतरंज के खिलाड़ी, शतरंज, भग्नप्राचीर, संरक्षक, विषपान, प्रकाश स्तंभ, सीमा संरक्षण, आहुति, शीशदान, रक्तदान, अमर-आन, अमर-बलिदान, साँपों की सृष्टि, संवत् प्रवर्तन, अमृत पुत्री आदि ऐतिहासिक रचनाओं में भी प्रेमीजी की यह चेतना विद्यमान है ।

हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा लिखित एकमात्र पौराणिक नाटक है "पाताल विजय" । इसमें लेखक ने महालसा के पौराणिक कथानक को आधार बनाया है । पौराणिक उपाख्यान से प्रेमीजी ने असत्य पर सत्य की एवं पाप पर पुण्य की विजय को प्रस्तुत किया है ।

प्रेमीजी की रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि उनकी रचनायें मात्र लोद्देश्यपरक ही नहीं आदर्श परक भी हैं । देश भक्ति, राष्ट्रीय एकता, नैतिकता, स्वधर्म समन्वय, मानवतावाद आदि भावनायें इन कृतियों में उभरती हुई दीख पड़ती है । जयनाथ नलिन के अनुसार "प्रेमीजी के नाटकों की प्रेरणा है वर्तमान । वर्तमान का निर्माण ही उनका लक्ष्य है, वर्तमान साध्य है, भूत साधन ।"[1] प्रेमीजी का लक्ष्य मानव मानव में एकता के द्वारा राष्ट्रीय एकता था । इसलिए उनकी सारी रचनायें इस तथ्य के संवाहक हैं ।

---

1. हिन्दी नाटककार - पृ. 138 - जगन्नाथ नलिन

गोविन्दवल्लभ पंत :

गोविन्द वल्लभ पंतजी भी इस परंपरा में आनेवाले नाटककार हैं । लेकिन इनकी रचनाओं में जयशंकर प्रसाद और हरिकृष्ण प्रेमी की तुलना में प्रौढता कम ही हैं । उन्होंने दो ऐतिहासिक नाटक लिखे "राजमुकुट" और "अन्तःपुर का छिद्र" । "वरमाला" नाटक में उन्होंने पौराणिक प्रसंग को आधार बनाया । राज मुकुट में पन्ना धाय के त्याग की कहानी है । जिसने मेवाड के होनेवाले राणा उदयसिंह की रक्षा करने के लिए हिंसक हाथों से अपने एकमात्र पुत्र का वध कर लिया । इस इतिहास प्रसिद्ध कहानी के आधार पर नाटक की सृष्टि हुई है । ऐतिहासिक घटनाओं को ज्यों का त्यों पन्तजी ने "अन्तःपुर का छिद्र" में रख दिया है । यह नाटक पत्मराज उदयन की दो रानियों-पद्मावती और मागंधिनी - के पारस्परिक संघर्ष की कथा है । उनके तीनों नाटकों में आदर्श निष्ठता का आभास अवश्य मौजूद है । "वरमाला" के अवीक्षित तथा "अन्तपुर का छिद्र" का पद्मावती और राजमुकुट का पन्ना धाय तीनों चरित्र आदर्शनिष्ठ हैं ।

उदयशंकर भट्ट :

इस कोटि में आनेवाले लेखकों में उदयशंकर भट्ट जी का नाम उल्लेखनीय है । उन्होंने कई ऐतिहासक एवं पौराणिक नाटक लिखे हैं । "सागर-विजय", "विद्रोहिणी अम्बा" और "नहुष निपत" उनके पौराणिक

नाटक है । विद्रोहिणी अम्बा की कथावस्तु महाभारत पर आधारित है । एक ओर नारी की दुर्दशा तथा संघर्ष से भरे हुए जीवन को प्रस्तुत करना ही भट्ट जी का लक्ष्य है । डा. नगेन्द्र ने "आधुनिक हिन्दी नाटक" नामक ग्रंथ में कहा है "अम्बा में भी चिरन्तन नारीत्व की समस्या अत्यन्त तीखे रूप में हमारे सामने आती है ।"[1] युग की सच्चाई को अभिव्यक्त करने में लेखक को जो सफलता प्राप्त हुई उसके बारे में लेखक ने कहा है "मेरे पात्रों ने यदि महाभारत की गुफा से निकलकर वस्तुस्थिति को ठोक बजाकर जाँचा और वर्तमान के जीवन में घुसकर एक नई दिशा देखे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?"[2]

"सागर विजय" नाटक अयोध्या के राजा बाहु के पुत्र चक्रवर्ती सागर की कथा है । "नहुष निपात" में कामवासना के प्रतीक नहुष की कहानी है । भट्टजी के अनुसार "आज के जीवन में नहुष की चेतना उसका कार्य कलाप, उसका प्रच्छन्न लक्ष्य जैसे मनुष्य का अवान्तर रूप बन गया है जिसे वह अपने अन्तरतम की अवचेतना में सहज आबद्ध पाता है । इसके साथ ही इस प्रकार के साहित्य का युगीन प्रभाव भी जैसे पाठक के लिए हमदर्दी है, उसी के मन की बात है । मेरे इस पद्य नाटक में नहुष उसी कामान्धता का प्रतीक है जिसको आज के जीवन में मनोविज्ञान का शास्त्रीय आधार मिल गया है ।"[3]

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक - पृ. 121 - डा. नगेन्द्र
2. विद्रोहिणी अम्बा - अपनी बात - पृ. 14 - उदयशंकर भट्ट
3. नहुष निपात - भूमिका - उदयशंकर भट्ट

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटक हैं, "विक्रमादित्य", "दाहर अथवा सिन्ध पतन", "मुक्तिदूत" और "शकविजय" । विक्रमादित्य में कल्याण के राजा आहवमल्लदेव के कनिष्ठ पुत्र विक्रमादित्य के उदात्त चरित्र का आख्यान इसमें है । इस नाटक के बारे में सत्येन्द्र चतुर्वेदी ने कहा है कि "इस नाटक में मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए संघर्ष और प्राण होम देने की उदात्त भावना के भी दर्शन होते हैं ।"[1] दाहर अथवा सिन्धपतन की कथा छठीं-सातवीं शती की कहानी है । इसमें भारतवासियों की अकर्मण्यता और आपसी संघर्ष के कारण सिन्ध प्रदेश में विदेशी आक्रमणकारियों के आधिपत्य के प्रसंग को उठाया है । ऐतिहासिक होने पर भी तत्कालीन भारतीय परिस्थिति के पतन को ही नाटककार भट्ट जी ने इसमें दिखाया है । मनोरमा शर्मा के अनुसार "भारत में प्राचीन काल से लेकर आज तक किस प्रकार धार्मिक, सामाजिक एवं वर्गवाद आदि के वैमनस्य धार्मिक असहिष्णुता, धार्मिक रूढियों से ग्रस्त मतमतान्तर पतन की ओर उन्मुख करते रहे हैं । यही कथा भट्ट जी के प्रस्तुत नाटक का प्रतिपाद्य है ।"[2]

मुक्तिदूत नाटक भगवान बुद्ध के जीवन पर आधारित है । इस नाटक में भट्टजी की गाँधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है । नाटक के उद्देश्य के बारे में अरविन्द जोशी ने कहा है "उदयशंकर भट्ट ने मुक्तिदूत नाटक द्वारा गाँधीयुगीन विषम पारस्थितियों को प्राचीन

---

1. उदयशंकर भट्ट - व्यक्तित्व , कृतित्व और जीवन दर्शन - पृ. 101 - सत्येन्द्र चतुर्वेदी
2. नाटककार उदयशंकर भट्ट - पृ. 38 - मनोरमा शर्मा

आख्यान के माध्यम से हमारे सम्मुख रखा है । उस समय देश में वर्ण भेद की भावना तथा हिन्दु मुस्लिम धार्मिक वैमनस्य की जडें अत्यन्त गहरी होती जा रही थी । जनता आपसी झगडों और शासकों के अत्याचारों से बुरी तरह पिसी जा रही थी । ऐसी दशा में महात्मागाँधी जैसे महापुरुष द्वारा देश की जनता के उद्धार के लिए प्रयत्न आरंभ हुए और उन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता भी मिली । यहाँ इस नाटक का प्रतिपाद्य है ।"[1] मुक्तिबोध से भट्टजी का मकसद यह है कि समाज में व्याप्त अनैतिकताओं से मुक्ति हो जाए नाटक की भूमिका में इस लक्ष्य की ओर संकेत भी दिया गया है "अन्धानुकरण मत करो, सोचो और प्रयोग करो, इसी में जीवन की सार्थकता है ।"[2]

भट्टजी की इन नाट्य रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर अवश्य मौजूद हैं । जयशंकर प्रसाद और हरिकृष्ण प्रेमी के समान इतिहास और पुराण की रक्षा करते हुए अपनी कृतियों में समकालीन युगीन समस्याओं की संकुलता एवं उसका समाधान उदयशंकर भट्ट ने भी किया है । इस बात को स्पष्ट करते हुए एक आलोचक ने लिखा है "लेखक ने इतिहास की महानताओं और दुर्बलताओं दोनों को तटस्थ रूप में दिखाकर प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की झांकी प्रस्तुत की है । उनके ऐतिहासिक नाटकों में जहाँ उन प्राचीन महानताओं का दिग्दर्शन हुआ है, जिनके कारण भारत संसार में अपना मस्तक ऊँचाकर सका तो साथ ही उन दुर्बलताओं और कमज़ोरियों का भी लेखा-जोखा लेखक ने प्रस्तुत किया है । जिनके कारण समय समय पर देश के

---

1. गाँधीवादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव - पृ.439 - अरविन्द जोशी

2. मुक्तिदूत - भूमिका - उदयशंकर भट्ट

संकट का सामना करना पडा और उसका विकास अवरुद्ध होकर पतनोन्मुखी हो उठा । उनके नाटक हमें अपनी प्राचीन परंपरा की शक्ति और कमज़ोरी दोनों का अनुभव प्रदान कर वर्तमान जीवन में अपने राष्ट्र के निर्माण में उनके सजग रहने की प्रेरणा देते हैं ।"[1]

लक्ष्मीनारायण मिश्र :

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना करके भारतीय सांस्कृतिक गरिमा से जनमानस में जागृति पैदा करने की चेष्टा की है । सामाजिक प्रगति के लक्ष्य से उन्होंने इस प्रकार की रचनायें की हैं । लक्ष्मीनारायण मिश्रजी के ऐतिहासिक नाटकों में प्रमुख हैं, "गरुड ध्वज", "दशाश्वमेध", "वत्सराज" और "वितस्ता की लहरें" । गरुड ध्वज में विदिशा के शुंग सेना का सेनापति विक्रममित्र, जो सर्वशक्ति संपन्न होते हुए भी अपनी महत्ता से अधिक अपने राष्ट्र ध्वज (गरुड ध्वज) को अधिक गौरव देनेवाला है । विक्रममित्र का चरित्र, बल और निस्वार्थ सेवा का प्रतीक है । अपने देश के मान की रक्षा के लिए वह देशी विदेशी अत्याचारियों से युद्ध करता है । विक्रम मित्र जैसे एक चरित्र को अपनी कृति का नायक बनाते हुए राष्ट्रप्रेम एवं भारतीय संस्कृति पर उन्होंने ज़ोर दिया है । लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कहा है " जिस धरती के अन्न जल से पला व्यक्ति इस धरती के धर्म में, जब तक अपने को ढाल नहीं देता, तब तक तो वह अत्याचारी है । उसे अधिकार नहीं है उस धरती पर रहने का । हमारे पूर्वज इस देश में

---

1. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा - पृ. 148 - रामगोपाल सिंह चौहान

आने के साथ ही इस देश के धर्म में ढल गए । जुपिटर और मिनर्वा को तो वे यवन देश में ही छोड आए । यहाँ तो श्री विष्णु, महेश्वर, लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती के भक्त हो गए । ऐसा नहीं करने पर तो वे इस देश में विश्वास के पात्र कभी होते ही नहीं ।"[1]

"वत्सराज" नाटक में वत्सराज उदयन की कथा है । कथानक का आधार "प्रतिज्ञायौगन्धरायण" और "स्वप्नवासवदत्त" है । इस नाटक की प्रेरणा के संबंध में लेखक ने कहा है "वत्सराज के जिस चरित्र ने भास और कालिदास ऐसे कवियों को मोहित किया, उसके आधार पर यह नाटक लिखने का साहस केवल इस विश्वास से संभव हुआ कि भारतीय जनतंत्र के इस पुण्य-अवसर पर भारतीय साहित्य और कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति का निरूपण आज के लेखक का सबसे पहला धर्म है ।"[2] "वीर धर्म और गीता उपनिषद के कर्मयोग" को माननेवाला उदयन और उसकी पत्नी वासवदत्ता की कथा इसमें है । मिश्रजी ने इस नाटक में तेजस्वी, प्रजापालक, और कर्मयोगी उदयन को चित्रित किया है । दशरथ ओझा के अनुसार " इस नाटक में उदयन के संबंध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक, मानवीय और बौद्धिक रूप उपस्थित करते हुए तप और भोग का समन्वय दिखाया गया है जो हमारी संस्कृति का मेरूदण्ड है ।"[3]

---

1. गरुड ध्वज - पृ. 68 - लक्ष्मी नारायण मिश्र
2. वत्सराज - भूमिका - लक्ष्मीनारायण मिश्र
3. हिन्दी नाटक - उद्भव और विकास - पृ. 301 - दशरथ ओझा

"दशाश्वमेध" नाटक में कुषाणों की पराजय तथा नागवंशी वीरसेन के नेतृत्व में भारत का पुनरुद्धार है । नाटक की भूमिका में लेखक ने कहा है " विदेशी कुषाणों से देश को स्वतंत्र करनेवाली भारशिव नाग वीरसेन की कथा इस नाटक का आधार बनी है ।"[1] उनके "वितस्ता की लहरें" नाटक में दो संस्कृतियों के बीच की टकराहट को दिखाकर भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था एवं विश्वास उन्होंने प्रस्तुत किया है । भूमिका में उन्होंने लिखा है "वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी, जो अपने विधि विज्ञान और जीवन दर्शन में एक दूसरी के विपरीत थी । यवन-सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और कैकेय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार । दोनों ने एक दूसरी को जाना और समझा और बहुत अंशों में वैर और द्रोह मिटाकर शील और सहयोग के बढने का अवसर दिया था ।"[2]

इन नाटकों के अलावा मिश्रजी के अन्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक रचनायें हैं "अशोक", "नारद की वीणा", "चक्रव्यूह", "वैशाली में वसन्त", "जगद गुरु", "अपराजित" और "चित्रकूट" । उनकी सारी कृतियों में आदर्शवादिता का स्वर गूँजता है ।

---

1. दशाश्वमेध - भूमिका - लक्ष्मीनारायण मिश्र
2. वितस्ता की लहरें - भूमिका - लक्ष्मीनारायण मिश्र

रामकुमार वर्मा :

इस क्षेत्र में डा. रामकुमार वर्मा का नाम भी स्पृहणीय है । उनके नाटक हैं - "सत्य का स्वप्न", "विजय पर्व", "कला और कृपाण", तथा "नाना फड़नवीस", "अग्निशिखा" और "मालवकुमार भोज" । उनके सांस्कृतिक नाटक हैं, "महाराणा प्रताप", "जय आदित्य", "जय वर्धमान", "भगवान बुद्ध", "जय भारत", "सन्त तुलसीदास" आदि ।

विजय पर्व नाव सम्राट अशोक के जीवन पर आधारित है । अशोक के सम्राट होने से पूर्व कलिंग विजय के उपरान्त की घटनायें इसमें वर्णित हैं । नाटककार ने कहा है "यदि अशोक के जीवन को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो अंशों में रखा जाय तो कलिंग विजय ही एक ऐसी घटना है जिसने अशोक के जीवन की दिशा बदल दी । यही घटना इस नाटक की प्रमुख घटना है । जिसके द्वारा कार्य की अवस्था चरम सीमा पर पहुँचकर निगति की ओर जाती है ।"[1] कला और कृपाण नाटक महाराजा उदयन की कथा है । इसमें उन्होंने अहिंसा पर हिंसा की विजय को दिखाया है । उदयन प्रारंभ में बौद्ध धर्म का विरोधी था बाद में उसका बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने की घटना इसका कथानक है । प्रस्तुत नाटक में भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता "आनन्द की खोज" को रामकुमार वर्मा ने वाणी दी है । लेखक का मत है "कला और कृपाण में हिंसा पर अहिंसा के विजय चित्रित की गई ।.....गौतम बुद्ध की अहिंसा आज भारत की महान विभूति बनकर

---

1. विजयपर्व - भूमिका - डा. रामकुमार वर्मा

देश देशान्तर में व्याप्त हो रही है । इससे दर्शक के मन पर यह विश्वास स्थायी हो जाता है कि एक न एक दिन पाशविक प्रवृत्तियों पर करुणा, दया, समता आदि मनोवृत्तियाँ अवश्य ही विजयी होंगी ।"[1]

नाना फडनवीस, अग्निशिखा, जय बंगला, मालवकुमार भोज आदि रामकुमार वर्मा के अन्य ऐतिहासिक नाटक हैं । उनकी रचनाओं का मूल उद्देश्य अतीत की सभ्यता, संस्कृति की गरिमा और मानवीय चेतना को नवीन प्रस्तुति देना है । उनके बारे में यह वक्तव्य सच निकलता है । "डा. रामकुमार वर्मा ने सोयी हुई भारतीय संस्कृति को जगाकर भारतीयों में नये प्राण फूंके हैं । उनके सांस्कृतिक नाटक हमारी संस्कृति के लिए गौरव ही नहीं वरदान सिद्ध हुए हैं । डा. रामकुमार वर्मा ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में ऐसे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है जो जीवन की व्यावहारिकता से ओत प्रोत होकर भी नैतिक दृष्टि से जनता के कल्याणकारी है ।"[2]

सेठ गोविन्ददास :

सेठ गोविन्द दास जी ने भी अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखे । उनके नाटकों में राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चेतना का चित्रांकन हो गया है । उनके "हर्ष" नाटक में सातवीं सदी का ऐतिहासिक वातावरण है । नाटक का कथानक भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट हर्ष वर्द्धन

---

1. कला और कृपाण - भूमिका - डा. रामकुमार वर्मा
2. डा. रामकुमार वर्मा का नाट्य साहित्य - पृ. 125 - कमल सूर्यवंशी

पर आधारित है । तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक चित्र प्रस्तुत कर अतीत का सुन्दर चित्र इसमें खींचा गया है । उनके "शेरशाह" नाटक हिन्दु मुस्लिम एकता की कहानी कहता है । "शशिगुप्त" नाटक में राष्ट्रीय भावना तथा केन्द्रीय शासकों की व्यवस्था को चित्रित किया गया है । "अशोक" नाटक में अशोक के व्यक्तित्व को उभारा है । इन नाटकों के अलावा सेठ गोविन्ददास की अन्य ऐतिहासिक रचनायें हैं "कर्तव्य", "कर्ण", "कृषियज्ञ", "विकास", "सिंहल द्वीप", "विजय बेलि", "भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु", "कुलीनता", "विश्वासघात", "वल्लभाचार्य", "रहीम", "भारतेन्दु", "महात्मा गाँधी", बुद्ध की एक शिष्या", "बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन ?", "जालोक और भिखारिणी", "चन्द्रापीड और चमत्कार", "अपरिग्रह की परकाष्ठा", चैतन्य का सन्यास; "नानक के समाज", "शिवजी का सच्चा स्वरूप", "गुरू तेगबहादुर की भविष्य वाणी", "पतन की परकाष्ठा", "निर्दोष की रक्षा; "बाजीराव की तस्वीर", "सच्चा धर्म", "भय का भूत", "वे आँसू", "केरल का सुदामा", "कृष्णकुमारी", "अजीबोगरी व मुलाकात", "महर्षि की महत्ता", "परमहँस की पत्नी", "प्रेम", सुख सन्तरे" आदि । इन रचनाओं के द्वारा आदर्श एवं देशप्रेम को फैलाने का प्रयास नाटककार ने किया है ।

भारतेन्दु युग, प्रसाद युग और प्रसादोत्तर युग के प्रमुख नाटककारों की नाट्यरचनाओं को परखने से यह स्पष्ट निकलता है कि इस अवधि की सारी रचनायें उद्देश्यपरक ही हैं । तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टि प्रदान की थी ।

इतिहास और पुराण के विभिन्न प्रसंगों और व्यक्ति चरित्रों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने भारतीय जनता को अपनी कमज़ोरियों से अवगत कराने का साहस किया । वे जानते थे कि भारतीय जनता में विद्रोह करने की आकांक्षा के बदले कायरता अधिक है इसलिए उस कायरपन को छोडने की प्रेरणा उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा दी ।

इसके साथ साथ अधिकार लिप्सा के मोह में पडकर देश के विरुद्ध षड्यंत्र रचनेवालों की कटु निन्दा की जो व्यक्तिगत लाभ में पडकर समूचे देश में आग लगानेवाले हैं । उन्होंने जनता को इस बात की जानकारी दी कि देश की जनता में क्षोभ और साहस का जो अभाव हैं वही विदेशी शक्तियों को कई बार यहाँ चढाई करने के लिए प्रेरणा बनी है । यहाँ के शासक अपनी शक्ति और वीरता को प्रतिस्पर्धा की वेदी पर चढाते रहे और यही देश में विदेशियों को खुली राह बन गयी । किसी भी देश की जनता का पारस्परिक विद्वेष और स्पर्धा चिनगारी के समान हैं जो वीरता के लाक्षागृह को एक क्षण में भस्मीकृत कर डालेगी । इसलिए मानव की एकता के लिए जनता को आह्वान करना लेखकों का दायित्व बन गया । इतिहास को परखें तो वीरता में नारी पुरुष के एक कदम आगे थी इसलिए नारी जागरण को भी उन्होंने प्रोत्साहन दिया ।

देश प्रेम जगाना युग की आवश्यकता थी और देश की रक्षा के लिए जनता के नसों में कायरता का खून कभी न बहना है । इस बात

से अवगत होकर उन्होंने इतिहास के असंख्य अमर बलिदानों की कथाओं को प्रस्तुत किया । वंश के साहस, धैर्य और वीरता का यशोगान करने की प्रवृत्ति भी इसमें मौजूद हैं । इसको अभिव्यक्त करने के लिए नाटककारों ने महान व्यक्तियों के जीवन चरित्रों और जन्मभूमि के लिए अपनी जान हथेली में रखकर लडनेवाले वीर पुरुषों और युवतियों की कथा सुनाकर जनमानस को उत्तेजित करना चाहा । ऐतिहासिक, पौराणिक चरित्रों के विविध गौरवशाली पहलुओं को प्रकाशित कर विश्वप्रेम, भ्रातृप्रेम, नैतिकता, चरित्र गरिमा को प्रतिष्ठित करना इन अतीतपरक नाटकों का उद्देश्य रहा । अपने साहस बुद्धि, दूरदर्शिता तथा देशभक्ति के कारण जिन महान पुरुषों का नाम अमर हुआ है उनकी कथा से जनता में आवेश भराने का भी प्रयास किया ।

नाटककारों ने पाठकों को सुदूर अतीत तक ले जाकर जैसे वीर पुरुषों की नैतिक दृढ़ता, चारित्रिक निर्मलता से उनका परिचय कराते हुए पाठकों में देशभक्ति जगाना चाहा । महान व्यक्तियों के साथ साथ पाठकों का परिचय ऐसे देशद्रोही चरित्रों से भी कराया है, जिन्होंने स्वार्थ, क्रोध, व्यक्तिलाभ के क्षणिक मोह से प्रेरित होकर जन्मभूमि के हित को भूलकर देश को अत्याचारियों के हाथों बेच डाला ।

स्वर्णिम अतीत के यशोगान द्वारा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जागृत करने का प्रयास इन नाटकों में मुख्य रूप में लक्षित होता है । सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई ऐतिहासिक चेतना इसलिए इन नाटकों की एक मुख्य विशेषता मानी जाती है ।

इतिहास आदमी की शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है इस दर्पण को जनता के सामने इस उद्देश्य से ये नाटककार रखते हैं कि जनता अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की उन सारी कमज़ोरियों को दूर करने की कोशिश करें । जिन्होंने उन्हें गुलामी के जंजीरों में बाँधा और उन गुणों को अपनाए जो राष्ट्र निर्माण में सहायक सिद्ध हुए ।

अतीत और स्वातंत्र्योत्तर युग :

बीसवीं सदी का पाँचवाँ दशक हर दृष्टि से संक्रमण का समय रहा था । राजनीतिक स्तर पर सन् 1942 की जनक्रांति, बंगाल का अकाल, नाविक विद्रोह, भारत-विभाजन और स्वतंत्रता-प्राप्ति जैसी घटनायें इसी अवधि में हुई । इस प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों का दबाव प्रत्येक भारतीय अनुभव कर रहा था और यहाँ की जनता में परिस्थितियों से संघर्ष करने की अदम्य इच्छा जाग गयी । इसकी प्रेरणा के रूप में पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्य, विचारधारा इत्यादि भी कार्यरत थे । "स्वतंत्र होते ही देश ने व्यक्ति और समाज के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए कुछ संकल्प किए तथा कुछ कार्यक्रम निर्धारित किए ।"[1] लेकिन विभाजन, शरणार्थी, समस्यायें और दंगे की अमानवीयता ने सारे विश्वास, गरिमा इत्यादि को मिटा दिया । "दो विश्वयुद्धों ने यूरोप के सांस्कृतिक जीवन

---

1. हिन्दी कहानी के आन्दोलन, उपलब्धि और सीमायें - पृ. 18 - डा. रजनीश कुमार

को ध्वस्त किया ही, भारत को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया । देश में हुए औद्योगिक विकास ने भी भारतीय समाज में यांत्रिकता का विष फैलाया । परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास के साथ ही हमारे तरुण लेखकों में भी यह पीडाजनक और नैराश्य रूप में अनुभूति जागी कि मनुष्य मशीन का पुर्जा बन गया है जिनके कारण उसका व्यक्तित्व खण्डित और विघटित होता जा रहा है ।"[1] राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र के परिवर्तनों से रचनाकार भी प्रभावित हुए । वे बदलते परिवेश और अन्तर्विरोधों को देखने लगे । इन सबके कारण स्वतंत्रता के साथ भारतीय परिवेश एकदम बदलने लगा । नये युग के उदय के साथ जल्दी ही जनता की आशा, आस्था और समाजवादी परिकल्पना सब बिगडने लगी । इसके बारे में धर्मवीर भारती ने लिखा है कि "ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया त्योंही यह अमरी भव्यता और प्रभामंडल अकस्मात् निस्तेज पडने लगा ।"[2]

जनता के आगे आदर्शवाद, स्वाधीनता, देशप्रेम जैसे मूल्य भी स्वाधीनता प्राप्ति के साथ मिट गए । सिर्फ उनके सामने बदलते परिवेश और उस परिवेश के जीवन संकट हैं । विभाजन और सांप्रदायिक दंगे ने सारे मानवीय संबंधों और विश्वासों को मिट्टी में मिला दिया । सांप्रदायिक सन्देह, वैर, अमानवीयता, अकेलापन शेष रह गए । औद्योगीकरण, शहरीकरण और पाश्चात्य शिक्षा आदि की वजह से भी जीवन दुस्सह हो गया,

---

1. आलोचना - अप्रैल-जून - पृ. 6, 1965
2. मानव मूल्य और साहित्य - पृ. 87 - धर्मवीर भारती

साल ही अन्तर्विरोधों को और फुरसत मिलने लगी । सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक जीवन में आए ज़बरदस्त परिवर्तनों के कारण बदलती संवेदना को समझना याने उसे समझने की प्रक्रिया को आधुनिकत्व कहते हैं । उसकी समझ को आधुनिक भावबोध या नया भावबोध कहते हैं । भीष्म साहनी ने कहा है कि "बदलते परिवेश में मनुष्य और समाज के जीवन में पाए जानेवाले अन्तर्विरोधों को महसूस कर पाना ही मेरी नज़र में आधुनिकता है ।"[1] डा. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार "आधुनिकता एक मूल्य न होकर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में वैज्ञानिक जीवन दृष्टि है जो समसामयिक जीवन को उसकी गति के रूप में ग्रहण करती है, प्रश्न चिह्न को उसकी निरंतरता के रूप में आत्मसात करती हैं । इसलिए इसमें विसंगतियों की संभावना है, परस्पर विरोध की स्थिति है ।"[2] डा. जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है वरन् सारग्राहिणी तत्वदृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात् करते हुए मानव की वर्तमान स्थिति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपनी दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है ।"[3]

आधुनिक जीवन बहुत जटिल है । उसकी मानसिकता संकुल है ही । उसके संवेदन को उसकी समग्रता एवं गहराई के साथ अभिव्यक्त करना कष्टकार्य है । इसलिए काव्य क्षेत्र में राहों का अन्वेषण किया गया है । राहों के अन्वेषण के साथ नए जीवन यथार्थ को अधिक संप्रेष्य बनाने का

---

1. सारिका-दिसंबर-1970 - पृ. 85 - सं. कमलेश्वर
2. नई कहानी: सन्दर्भ और प्रकृति - पृ. 185 - सं. देवीशंकर अवस्थी
3. नयी कविता: स्वरूप और समस्यायें - पृ. 20 - डा. जगदीश गुप्त

प्रयत्न भी जारी रहा । नए लेखक यह भी अनुभव करते थे कि सामान्य पात्रों के ज़रिए उसको पूर्णरूप से संप्रेषण नहीं कर पाते । इसकी ओर भी आलोचकों ने इशारा किया है । "ऐसे नाटककार यह मानते हैं कि जीवित चरित्रों की अपेक्षा प्रतीकात्मक पात्र नाटकीय तथ्यों का उद्घाटन करने में अधिक समर्थ होते हैं ।"[1] मोहन राकेश ने भी इसका उल्लेख किया है । "नाटक का नन्द इतिहास के नन्द की भांति आचरण नहीं करना ..... मैं ने इस इतिहास कथा का उपयोग इसलिए किया, क्योंकि इस कथा के माध्यम से विशेष प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती थी । बुद्ध और नन्द की पत्नी सुन्दरी के बीच होनेवाले संघर्ष का भी मैं उपयोग करना चाहता था । और यही दो बातें उस स्थिति का, जिसमें मैं अपने आपको आज पाता हूँ, अर्थात् दो शक्तियों के बीच विभाजित होने की स्थिति का प्रतीक बन गई । वस्तुतः अपने भीतर के इसी संघर्ष को मैं चित्रित करना चाहता था ।"[2] इस प्रकार पुराण-इतिहास की छाया में लेखक अपनी खोज समाप्त करते हैं । वे उसे संप्रेषण का सबसे उचित माध्यम मानते हैं, जिससे सामाजिक संसिक्ति होता है और विश्वास्य भी ।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - एकादश भाग - पृ. 137 - डा. सावित्री सिन्हा
2. मोहन राकेश: साहित्यिक सांस्कृतिक दृष्टि - पृ. 165-166 - मोहन राकेश

अध्याय - तीन

जनहंता राजनीति की झांकी : अतीत के वातायन से

अध्याय - तीन

जनहंता राजनीति की झांकी : अतीत के वातायन से

राजनीति की परिकल्पना अनुशासन के लिए हुई । अनुशासन सामाजिक जीवन की सुगम चाल के लिए अनिवार्य भी है। इसलिए राजनीति सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बनी है ही । दूसरे शब्दों में कहें तो राजनीति का उद्‌भव जनहित के लिए हुआ था । परंतु आज की राजनीति अपने लक्ष्य ही नहीं भूल गयी, बल्कि अपना मार्ग भी भूल गई । इस लक्ष्यहीन एवं मार्गहीन राजनीति के चंगुल में मनुष्य मनुष्य के रूप में जी नहीं सका । राजनीतिक क्षेत्र भ्रष्ट हो गया । इस भ्रष्ट राजनीतिक क्षेत्र को अभिव्यक्ति देने के लिए रचनाकारों ने अतीत को उचित माध्यम समझा । क्योंकि अतीत चाहे इतिहास या पुराण-दोनों में राजनीतिक पक्ष अधिक मुखरित हुआ है । अतः अतीत की राजनीति को साधन बनाकर लेखक अपने मन्तव्य को अभिव्यक्ति देते हैं ।

राजनीति आधुनिक युग में समाज के लिए एक वरदान एवं अभिशाप बनती जा रही है । विश्व भर में आम जनता इसके चंगुल में फँसकर भिन्न-भिन्न रूप में त्राही-त्राही कर रही है । वर्तमान राजनीति से नीति का अंश गायब हो चुका है । अतः वर्तमान राजनीति की नवीनतम परिभाषा स्वार्थनीति दी जा सकती है । चाहे व्यक्तिगत स्वार्थ हो या दलगत स्वार्थ, यह स्वार्थता विश्वभर के मानव को अनेक समस्यायें प्रतिदिन बढाती जा रही है और स्वार्थी नेता इससे फायदा उठाकर इतिहास में अपना नाम अमर बनाने का

और पृथ्वी में अपने लिए स्वर्ग रचाने का प्रयास कर रहे हैं । किसी छोटे प्रदेश के नेता या राष्ट्र-नेता दोनों जनता की भलाई या देश की भलाई से बढकर अपने पद एवं हित को हमेशा सुरक्षित रखना चाहते हैं । इसलिए कार्य-सिद्धि के लिए कोई भी कुकर्म करने व करवाने के लिए वे तनिक भी हिचकते नहीं । विभिन्न देशों में होनेवाले युद्ध एवं गृह कलाप के बीज इन स्वार्थी राजनीतिज्ञों के भेजे में ही पनपते हैं । मानवराशि की शांति एवं उन्नति के बजाय वे अपने स्वार्थ लाभों के लिए निरीह जनता को पिसते हैं और अन्याय के खिलाफ़ विद्रोह करनेवाले बुद्धिजीवियों तथा प्रतिबद्ध लेखकों को सताते हैं और उन्हें दबाते हैं । राजनीति के बेरहम परिवेश में बेज़ुबान खडे होने के लिए इन्हें विवश कर देते हैं । व्यक्ति और समाज की स्वतंत्रता पर राजनीति अंकुश लगाती है । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय माहौल में राजनीतिक गतिविधियाँ इसकी ठोस सबूत है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक परिवेश पूर्ववर्ती परिवेश से एकदम भिन्न है । स्वतंत्रतापूर्वक भारतीय समाज में राजनीति का खास मतलब केवल स्वाधीनता आन्दोलन ही था । तब जनता और उनके नेता सब अपनी मातृभूमि के लिए अपनी जान तक न्योछावर करने के लिए तैयार थे । गाँधीजी जैसे महान नेताओं के सामने देश की स्वतंत्रता एकमात्र मांग थी जिसकी सिद्धि के लिए सारी जनताओं का मार्ग निर्देशन किया गया । दो सौ वर्षों की दासता से मुक्ति नेता और जनता दोनों का स्वप्न था । इस लक्ष्य से "कांग्रेस" की स्थापना हुई थी । जनता में तब देश के स्वर्णिम भविष्य का एक स्वप्न बाकी था । स्वाधीन देश में अपनी भलाई के लिए एक बेहत्तर व्यवस्था, बेहत्तर समाज आदि की चिन्ता ने जनता में नये उमंग भर दिये । लेकिन

भारत की स्वाधीनता के बाद की परिस्थितियाँ देशवासियों के सपनों की गला घोंट देनेवाली जैसी थीं । "परतंत्र भारत में जनता के सामने एक आदर्श था, लक्ष्य था, अनुशासन था और एकता के सूत्र में बँधे रहने की प्रबल आकांक्षा थी। किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति के तुरन्त बाद ही पुरानी पीढी का आदर्श छिन्न -भिन्न हो गया, जीवन में कोई अनुशासन न रह गया, और देश के व्यापक हित के स्थान, स्वार्थ एवं स्वरति का प्राधान्य रह गया ।"[1]

1947 में भारत को स्वतंत्रता मिली, ब्रिटिश शासन का अंत हो गया । लेकिन परिस्थितियों में कोई आशायुक्त सुधार नहीं हुआ । वह और भी दर्दनाक बन गयी । गाँधीजी की हत्या तथा विभाजन आदि भी मोहभंग उत्पन्न करने लायक थे । स्वतंत्रता के बाद स्थितियाँ बदल गयीं, संविधान द्वारा अनेक प्रकार की स्वतंत्रतायें हरेक नागरिक को प्राप्त हुई । सब नागरिकों को बराबरी का दर्जा, अवसर की समानता, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संस्था व संघ बनाने की स्वतंत्रता, समानाधिकार हर प्रकार के भेदभाव से मुक्ति और स्वधर्म के पालन तथा प्रचार की स्वतंत्रता आदि इसके अन्तर्गत आते हैं । वास्तव में ये सब कागज़ी योजनायें मात्र रहीं । जिसके पीछे अवसरवादी एवं सुविधाभोगी राजनीतिज्ञों की साजिश काम कर रही थी । इन चरित्रहीन राजनीतिज्ञों के हाथ में आकर "आज़ादी" तक अधूरा शब्द रह गया । जनता ने भली भाँति इस सत्य से साक्षात्कार किया कि अपनी आकांक्षाओं में से एक चौथाई की पूर्ति कभी नहीं होगी । अनेक

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 51 - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

पेचीदी समस्यायें उनको निगलने के लिए सामने मुँह खोले खड़ी हो गयीं । जैसे - गरीबी की समस्या, रोज़गार की समस्या, सांप्रदायिकता की समस्या और शासन और राजनैतिक क्षेत्र का आदर्श लोप आदि । समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पनपे भ्रष्टाचार और बेईमानी के अतिरेक ने इन समस्याओं को और भी बिगाड दिया । इस संदर्भ में यह कथन सही लगता है कि "स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों ने जो स्वप्न देखा था वह अभी पूरा होने को है क्योंकि जहाँ एक ओर सब ही सब टूट ही टूट रहा है । वहाँ व्यापक दृष्टि से जीवन के आन्तरिक गठन की दृष्टि से नवनिर्माण की कोई आशा दिखाई नहीं देता । एक दूसरे को दोषी ठहराते हुए हम सभी एक ही सी स्थिति भोग रहे हैं ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में राजनीति एक रोज़गार बन गयी है । भ्रष्ट व्यवस्था राष्ट्र के विकास में बाधक बन गयी । फलस्वरूप देश में अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, दायित्वहीनता, कार्यकुशलता का अभाव आदि विद्यमान है । राजनीतिक क्षेत्र के ये भ्रष्टाचार जनता को भी शनैः शनैः प्रभावित करने लगे और साधारण जनता भी इसकी बेडियों से मुक्त नहीं पायी । अवसरवादिता, कूटनीतिज्ञता, स्वार्थान्धता और गैर ईमानदार राजनीतिज्ञों के नारे बन गये है । इन सारी गतिविधियों ने जनता को जीवन के प्रति आस्थाहीन बनाया । "अन्याय, तानाशाह, भ्रष्टाचार आज देश के हर पहलू पर है । मानव को जीवन के प्रति कुंठा और अनास्था का कारण बना ।

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 42 - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

स्वाधीनता और सच्चे जनतंत्र की आकांक्षा छोर नहीं दिख पडा ।"[1] आज राजनीतिज्ञों को एक ही मंशा है किसी भी कीमत पर कुर्सी हथियाना और एक दफे से हासिल किये अधिकार को हमेशा के लिए ज़ारी रखना, अपने और अपनेवालों के भविष्य को सुनहला बनाना । चुनाव के निकट आते ही सुनहले वादाओं की आड़ में वे जनता को धोखा देते हैं । वास्तव में वे लोग जनता को दुह रहे हैं । इसके लिए वे नारे लगाते हैं और पद के लिए किसी भी कुकर्म करने के लिए उन्हें कोई झिझक नहीं । चुनाव जीतने के लिए भिन्न भिन्न हथकण्डे का प्रयोग करते है चाहे वह धमकी, हत्या या डकैती हो । देश, भाषा, वर्ग, जाति आदि के नाम पर भिन्न भिन्न दलों का रूपायन करके जनता को आपस में लडाकर वे अपना मार्ग सुगम बनाते है । "स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति में जो घृणित परिवेश समाहित हुए हैं, इनमें वर्तमान की भ्रष्टाचारी व्यवस्था, जो राष्ट्र के विकास में बाधक सिद्ध हो रही है । आज की राजनीति में जातीयता की राजनीति, सांप्रदायिकता की राजनीति, संस्थागत राजनीति, भाषा की राजनीति, आनुवंशिकता की राजनीति, शहरी और ग्रामीण राजनीति, तथा आन्दोलनकारी नीतियाँ आज वर्तमान राजनीति को अपनी परिधि में समेटी हुई है । आज राजनीति इन्हीं परिधि के इर्द-गिर्द घूमती रहती है ।"[2]

राजनीतिज्ञ अपने पेशे को कायम रखने को कई तरकीबें ढूँढ निकालते हैं । उनमें से एक है दलबदल राजनीति । ये दलबदल राजनीति के

---

1. साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ. 78 - डॉ. नगेन्द्र सिंह
2. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक चेतना - पृ. 158 - कृष्णकुमार बिस्सा चन्द्र

पीछे प्रान्तीयता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, भाई-भतीजावाद एवं सांप्रदायिकता छिपे रहते हैं । आगे चलकर यह एक विकराल रूप धारण करके पूरे देश को टुकडों में बाँट कर देगी । देश के पहरेदार कहे जानेवाले नेता दलबदल राजनीति से होनेवाले खतरों की बिलकुल परवाह नहीं करते । क्योंकि उनका सारा ध्यान अपने पद-ओहदे को सुरक्षित रखना है । अपनी स्वार्थपूर्ति की अन्धी-दौड में वे देश के भविष्य को अनदेखा करते हैं, और किसी भी अनैतिक राह को अपनाने से हिचकते भी नहीं । चाहे वह खून की हो, चोरी की हो, रिश्वतखोरी की हो या भ्रष्टाचार एवं बेवफादारी की हो ।

स्वतंत्रता के बाद देश के कर्णाधार कहे जानेवाले लोग अपनी स्वार्थपूर्ति में लगे हुए हैं जिनके लिए देश की भलाई और आम जनता की भलाई से भी बढकर अपनी और अपनेवालों की भलाई काफी महत्वपूर्ण है । संपत्ति के पीछे भटकने के कारण बडे बडे ठेकेदार और पूँजीपति लोग इन्हें आसानी से खरीदते हैं । ठेकेदारों के तिज़ोरियों के आकार के सामने वे सिर नवाते हैं । देश के आर्थिक ढाँचे का धराशायी होने के पीछे भी नेताओं की स्वार्थता काम कर रही है । इसलिए राजनीति आज संपन्नों की सुविधा के लिए आयोजित एक "नीति" बन गयी है ।

विद्यालयों में छात्रों की अनुशासनहीनता के लिए एक हद तक राजनीति उत्तरदायी है । किशोर अवस्था के विद्यार्थियों के मन में राजनीति के बीज बोकर वे स्कूल व कालेजों में संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं ।

राजनीति और शिक्षा देश की प्रगति के दो प्रमुख सोपान है । यदि राजनीति और शिक्षा बिगड जाएगी तो पूरा देश बिगड जाएगा । शैक्षणिक संस्थाओं में राजनीति का हस्तक्षेप का अतिरेक शिक्षा के स्तर को गिरा देता है और यह देश की नींव को हिला देनेवाला है ।

राजनैतिक क्षेत्र से आदर्श, सत्ता, अहिंसा सब गायब हो चुके हैं । स्वतंत्रता के पश्चात् गाँधीजी की हत्या हुई उसी के बाद भी दो प्रधानमंत्रियों की दर्दनाक हत्या हुई । सामाजिक क्षेत्र में नैतिक च्युति, भ्रष्ट राजनीति से उपजी हुई है । इसलिए वर्तमान स्थिति में देश भर में काला बाज़ारी, चोरी, हत्या, स्वार्थान्धता आदि का बोलबाला हो रहा है और नेता चुप्पी साध रहे हैं ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतवासी को युद्धों का भी सामना करना पडा । भारत-चीन और भारत-पाक् युद्ध ने जनता को युद्धोपरांत समस्यायें भोगने के लिए बाध्य कर दिया । इस सिलसिले में आपात्काल की घोषणा हुई । प्रजातंत्र के स्थान पर डिक्टेटरशिप लागू हो गया । आपात्-कालान स्थिति ने भारतीय नागरिक की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी ।

सन् 1947 से लेकर अब तक की चार दशक की अवधि में भारतीय राजनीति ने कई करवटें बदली है । प्रणालियाँ बदली है लेकिन

इस लंबी अवधि में एक स्वतंत्र राष्ट्र में जितनी प्रगति होनी चाहिए थी उतनी नहीं हो पाई । प्रदूषित राजनीति में जीना कुछ मुश्किल हो गया है । कोई आशावादी परिवर्तन आज तक नहीं हुआ । राजनीति के क्षेत्र में आज भी अराजकता और ह्रासोन्मुखता बढती ही रही है । यथार्थ से दूर चलनेवाली यह राजनीति वतन और रैयत की भलाई कभी नहीं करेगी ।

देखते देखते राजनीति का दबाव समाज की प्रत्येक इकाई पर बढता जा रहा है । समाज के कोई भी व्यक्ति उससे मुक्त नहीं है। एक हद तक राजनीतिज्ञों को पनपने का अवसर देश की आम जनता दे रही है । नेता जनता की अन्धी श्रद्धा और आस्था और अज्ञता का खूब लाभ उठाते हैं । जनता की प्रतिक्रिया हीनता और प्रश्नहीनता इन नेताओं के लिए वरदान है । जीवन की छोटी-छोटी सुविधाओं में फँसे रहना ही वे चाहते हैं और इसलिए सोच विचारने और प्रश्न करने को वे हिचकते हैं । यहाँ तक कि अपनी ज़िन्दगी का निर्णय खुद लेने का प्रयास नहीं करते हैं । यों वे अपने आप को शोषक के हाथों में खुद सौंप देते हैं । हर अत्याचार के सामने चुप्पी साधनेवाली जनता के लिए उनकी चुप्पी ही सबसे बडा अभिशाप बन गयी ।

साहित्य के हर एक विधा राजनीतिक विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को शब्दबद्ध करती है । स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने राजनीति की असलियत को सही मायने में पहचान लिया है और उनकी रचनायें इस जानकारी का स्पष्ट प्रमाण है । समसामयिक राजनैतिक विद्रूपताओं को रेखांकित करने के लिए उन्होंने सुदूर अतीत को आत्मसात किया ।

राजनीतिक दाँवपेंच की दास्तान :-

जगदीश चन्द्र माथुर ने "पहला राजा" नाटक द्वारा स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनैतिक क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं को खींचा है । वर्तमान कुटिल राजनीति की विभिन्न समस्यायें जैसे सत्ता और समाज के संपन्न वर्ग पूँजीपति और ठेकेदार वर्ग के बीच का समझौता, स्वार्थी नेताओं की चाल से मुक्त न हो पानेवाली आज की राजनीति, जनकल्याण से अधिक अपने भविष्य के प्रति मात्र जागरूक समाज के स्वार्थी तत्वों का चित्रण इसमें हुआ है ।

राजनीति के क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को कुछ शर्तों पर अधिकार सौंप दिया जाता है । इन शासकों के हाथों में शर्तें रखनेवाले उनसे हमेशा ऐसे उम्मीदें रखते हैं कि हमेशा उनके स्वार्थ लाभ की पूर्ति हो जाय । आगे चलकर यदि शासक की ओर से कुछ मनमानी हो जाता तो उसको तबाह करने के लिए भी वे नहीं हिचकेंगे । अतः किसी के हाथ में सत्ता का आ पहुँचना और क्षण भर में उनसे अधिकार हडप लेना राजनीति का रोज़ाना हुआ है । "पहला राजा" में वेन एक एकाधिकारी, उद्दण्ड, निरंकुश सत्ता का प्रतिनिधि है । उद्दण्ड चरित्र के होने पर भी पहले मुनिगण दस्युओं से अपने यज्ञ हवन आदि की रक्षा के लिए "वेन" को शासक बनाने के लिए विवश होते हैं । वेन अपने सिवा और किसी को भी माननेवाला नहीं था । अपने पिता को भी तंग करनेवाला वेन स्वयं अपने को ईश्वर घोषित करता है । स्वेच्छानुसार वेन ऋषि-मुनियों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने लगा जैसे वर्ण संकरता को बढावा

देना और यज्ञ हवन आदि को बन्द करवाना आदि । मुनि गणों के विरुद्ध शासन करनेवाले वेन को मुनि लोग मार डालते हैं । अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करनेवाली सत्ता को जीवित छोडना वे नहीं चाहते । अत्रि मुनि के ये शब्द इसे स्पष्ट करने योग्य हैं । "मैं पूछता, हवन संस्कारों में जाति के प्राण हैं - देवताओं की कृपा हमारा अमृत है । आर्य जाति के रक्त की शुद्धता ही हमारी मर्यादा है । जो उस प्राण का घातक है, उस अमृत का शोधक है, उस मर्यादा का ध्वंसक है क्या ऐसा निर्लिप्त पापी ज़िन्दा रहेगा ? ..... कभी नहीं । कभी नहीं । कभी नहीं । ..... सारा आसमान गूँज उठता ।"[1]

मुनिगण मंत्रों और हुंकारों के जरिए वेन का नाश कर डालते हैं । वर्तमान राजनीति की सामाजिक शक्तियाँ अपनी सुविधाओं के लिए किसी एक को शासक का पद देती हैं फिर ज़रा भी वह सत्ता उनके विरुद्ध खडी हो तो उसे किसी न किसी प्रकार नष्ट कर देती है । डा. रमेश गौतम के अनुसार "मुनियों की हुंकारों मंत्रों एवं मंत्रपूत कुशा की रस्सी की तुलना नाटककार ने वर्तमान राजनीति की नारेबाजी और आन्दोलनों से की है । इसी नारेबाजी और जन आन्दोलनों से प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में किसी राजनीतिक नेता की राजनीतिक मृत्यु होती है । मुनियों ने भी यही किया और आज भी व्यवस्था परिवर्तन के लिए नारों और आन्दोलनों का ही सहारा लिया जाता है ।"[2]

---

1. पहला राजा - पृ. 17 - जगदीशचन्द्र माथुर
2. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ. 58 - डा. रमेश गौतम

त्रिगर्त से आये हुए युवक पृथु को "राजा" घोषित करने के पीछे भी मुनिगण का स्वार्थ काम कर रहा है । ब्रह्मावर्त के असली शासक वेन का अनार्य कन्या में उत्पन्न कवष को सुनीथा के हाथों में सौंपने के लिए त्रिगर्त से ब्रह्मावर्त में आए पृथु को सुनीथा से वे पहले मिलने नहीं देते । रक्त की शुद्धता की दुहाई देनेवाले मुनिगण एक अनार्य पुरुष कवष को 'पहला राजा' के रूप में स्वीकार करने के लिए कभी तैयार नहीं । इसलिए वेन के देह-मंथन का नाटक रचाते हैं और माता सुनीथा भी उनके बहकावे में आ जाती है और विश्वास करती है कि वेन का जंघापुत्र ही कवष है और भुजापुत्र पृथु ही वास्तविक उत्तराधिकारी है । देह मंथन द्वारा नये शासक का आविर्भाव इस तथ्य की ओर प्रकाश डालता है कि सत्ता हमेशा समान ही है केवल चेहरा ही बदलता रहता है । डा. गोविन्द चातक के अनुसार "देह मंथन या स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो व्यवस्था जन्म लेती है वह सर्वथा नयी होने की अपेक्षा पुरातन के मंथन से ही जन्मी है । वेन के मन्थन से पृथु का आविर्भाव इस सत्य को स्पष्ट करता है । वह वेन का ही भुजापुत्र - मानसपुत्र है । इसी प्रकार कवष उपेक्षित जनता के क्षुद्र वर्ग का कर्मशील प्रतिनिधि बनता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना व्याख्या के ही वेन के देह मंथन की कथा स्वतंत्रतापूर्व की स्थिति और उसके परिणामों पर पूरी तौर पर चरितार्थ होती है ।"[1]

मुनिगण सत्ता को अपने काबू में रखनेवाले आज के पूँजीपति एवं ठेकेदारों के प्रतिनिधि है । अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए वे पृथु को

---

1. नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - पृ. 69 - डा. गोविन्द चातक

भुजापुत्र घोषित कर राजा बनाते हैं । पर प्रतिज्ञाओं द्वारा उसे अस्वतंत्रता की बेडियों में जकडा दिया जाता है । वे यही चाहते हैं कि राजा पृथु मात्र उनकी यज्ञशालाओं की रक्षा करते रहे और प्रजा के मामलों को अनदेखा करे । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में जिन लोगों के हाथ सत्ता सौंपी गई उन पर भी ऐसी बन्दिशें थीं । "धर्मतंत्र द्वारा अपने स्वार्थ के लिए राजतंत्र और सामाजिक व्यवस्था का संचालन संपूर्ण नाटक में अन्तर्व्याप्त है । सुविधाभोगी वर्ग के प्रतीक महत्वाकांक्षी अधिकार लोलुप मुनिगण पृथु को प्रतिज्ञाओं द्वारा केन्द्रस्थ रहने देना चाहते हैं, और न ही उसे कवष तथा उर्वि से मिलकर पूर्ण बनने देना चाहते हैं । क्योंकि उससे पृथु पर उनका नियंत्रण समाप्त हो जाएगा और उसका उपयोग वे अपने स्वार्थ के लिए नहीं कर पायेंगे ।"[1] दस्युओं से आश्रमों की रक्षा के लिए ही मुनिवर्ग को एक राजा चाहिए था । वे राजा को राजा की जनप्रीति प्राप्त करने से रोकता है । इस संदर्भ अत्रिमुनि कहता है " धन्य है शुक्राचार्य, तुम्हारी शुक्रनीति ।..... प्रजा अब हम लोगों की मुट्ठी में होगी । भृगुवंशी, मानता हूँ तुम्हारा लोहा ।"[2] वे समाज में वर्ण और वर्ग के नाम पर विरोध पैदा करते हैं । आर्य और दस्यु कहे जानेवाले अनार्य मिलकर जब बाँध का निर्माण करने लगे तो मुनिगण उसमें बाधा डालते हैं । बाँध के निर्माण की अन्तिम दशा में मज़दूरों को न भेजते हुए वे राजा द्वारा समाज के लिए कल्याणकारी क्रियाओं को सफल नहीं होने देते है । वे कभी नहीं चाहते हैं कि राजा जनता की भलाई करते जनता का आदर-सम्मान प्राप्त करें । समय पर मज़दूर न मिलने के कारण बाँध का निर्माण अधूरा रह जाता है । और बाढ के आने से उच्छृंखल नदी की प्रचण्ड लहरों में उर्वी और कवष डूब जाते हैं । इस घटना के बारे में

---

1. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ. 69 - डा. रमेश गौतम
2. पहला राजा - पृ. 11 - जगदीशचन्द्र माथुर

माथुर ने ही कहा है कि " नाटक में जिस तरह बाँध के काम में ढील डालने का स्वार्थवश कुचक्र दिखाया गया है वह एक सत्य घटना पर आधारित है । मेरी जानकारी में कुछ वर्ष हुए बाढ को रोकने के लिए एक बाँध की मरम्मत में एक स्थानीय नेता के दुराग्रह पर इसीलिए ढील-ढाल दी गई कि अगर अधिक मज़दूर भेजे जाते तो उन स्थानीय नेता की पार्टी के मज़दूरों के वेतन में कमी हो जाती ।"[1]

मुनिगण को आदमी की महत्ता की कसौटी कर्म की पवित्रता नहीं त्वचा का रंग है । वे वर्ण संकरता को बढावा देना नहीं चाहते । इन मुनियों में उतनी अधिक दूरदर्शिता और कूटनीतिज्ञता है कि वे पृथु और कवष की जिगरी दोस्ती पर दरारें पैदा करने में सफल निकलते हैं । कवष समाज द्वारा उपेक्षित होने पर भी समाज विरोधी नहीं निकलता । वह अनार्य लोगों से मिलकर ब्रह्मावर्त में व्याप्त अकाल और भूख के सही कारण समझकर उसके विरुद्ध जमीन में वर्षा के पानी को ठहरने के लिए बाँध की योजना बनाता है ।

मुनिगण पृथु जैसे शासकों की कमज़ोरियों से लाभ उठानेवाले हैं । कर्मी पुरुष की कामवासना से लाभ उठाने के लिए गर्ग मुनि अपनी पुत्री अर्चना के रूपजाल में उसे फंसा देता है । शासक और प्रजा को भ्रम में डालना और झूठा और सुनहला वादा देकर अकर्मण्य बनाना भी उनकी परिपाटी में आते हैं । ब्रह्मावर्त में व्याप्त अकाल और भूख के कारण अनार्यों की भूखण्डिका

---

1. पहला राजा - पृ. 113 (पृष्ठभूमि) - जगदीशचन्द्र माथुर

उपासना कहकर वे पृथु और प्रजा को यथार्थ से दूर हाँकते हैं । वे यह झूठ फैलाते हैं कि यज्ञ हवन से ऊपर उठनेवाली धुआँ से ही आकाश में बादल उमडेंगे । असली लक्ष्य से दूर भडकाते हुए वे जनकल्याण से राजा को हटाते हैं ।

राजनैतिक क्षेत्र के विभिन्न दलों के बीच की आपसी स्पर्धा और कूटनीतिज्ञता को माथुर ने नाटक के भिन्न भिन्न मुनिवंशों की आपसी टकराहट से स्पष्ट किया है । नाटक में शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग और बालशिल्प विभिन्न दलों के नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं । वर्तमान युग की पार्टीबाजी का संकेत इसमें विद्यमान है । स्वयं माथुर ने ही कहा है कि "भृगुवंश और आत्रेयवंश की पारस्परिक स्पर्धा का प्रसंग मैं ने वशिष्ठ और विश्वामित्र की सुविदित स्पर्धा के अनुसार गढा है । मनगढन्त होते हुए भी इस तरह की स्पर्धा आश्रमों के बीच मुझे स्वाभाविक जान पडी । पार्टीबाजी नितान्त आधुनिक समस्या नहीं है, मुनियों के बीच इस तरह की दुर्भावना अपनी शक्ति और प्रभाव को जनता में कायम रखने के लिए यदा-कदा उठती रही हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं ।"[1]

राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे कुछ लोगों को देखने को मिलते हैं जो शासक के गुणगान करते रहते हैं । प्रजा को बहकावा देने के लिए और शासन के प्रति लगाव पैदा करने के लिए सामाजिक शक्तियाँ यह चाल भी प्रयोग करती हैं

---

1. पहला राजा - पृष्ठभूमि - जगदीशचन्द्र माथुर

नाटक में सूत और मागध उसके परिचायक हैं । सूत का ये शब्द इसका दृष्टांत है ।

"हे परमप्रतापी, हे परमसमर्थ, हे परमबलशाली राजन, हम बारंबार आपके प्रकट होनेवाले गुणों और कर्म की वन्दना करते हैं ।"[1]
जगदीशचन्द्र माथुर ने सूत और मागध के प्रसंग के बारे में कहा है कि "मैं सूत-मागध की तुलना आजकल के प्रचारक और विज्ञापन करनेवालों से की है । यों तो प्राचीन ग्रंथों में स्तुतियों और प्रशंसाओं की सर्वत्र ही भरमार है किन्तु किसी व्यक्ति ने इस तरह के प्रशंसकों को यह कहकर रोका हो कि बिना अवसर के चापलूसी करना गलत है, ऐसा प्रसंग मुझे अन्यत्र नहीं दीखा ।"[2]

यों वर्तमान राजनीति के सारे प्रश्न माथुर ने अपने नाटक में संजोया है । इसलिए इन्द्रनाथ मदान का यह वक्तव्य उचित ही लगता है कि "इस तरह नाटक में समकालीनता इनके आधार पर उभरने लगती है - योजनाओं की स्थापना, भारत चीन युद्ध, मंत्रियों के आपसी द्वेष और षड्यंत्र, घाटे का बजट या राजकोष का खाली हो जाना, देश की एकता का सवाल, पूँजीपती वर्गों के बडे बडे घर, मुनाफाखोरी, जनता का शोषण, अन्न की कमी, पिछडी जातियों का मसला, संविधान की शपथ ।"[3]

---

1. पहला राजा - पृ. 45 - जगदीशचन्द्र माथुर
2. पहला राजा - पृष्ठभूमि - जगदीशचन्द्र माथुर
3. आधुनिकता और हिन्दी साहित्य - पृ. 205 - डा. इन्द्रनाथ मदान

"पहला राजा" नाटक के कथ्य में पुराण और इतिहास के कुछ तथ्यों को माथुरजी ने संजोया है । नाटककार के ही शब्दों में "मुख्य पात्र और प्रसंग मैं ने वैदिक और पौराणिक साहित्य से लिये हैं । लेकिन इसलिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता । पृष्ठभूमि के कुछ अंश और कुछ सूत्र मोहंजोदड़ो - हड़प्पा सभ्यता की खुदाइयों से संबद्ध है । इसी से यह नाटक ऐतिहासिक नहीं हो जाता ।"[1] चाहे ऐतिहासिकता या पौराणिकता नाटक में कितनी भी हो समसामयिक राजनीतिक क्षेत्र के सभी पहलुओं को यह नाटक अपने में समाहित करता ही है । इस संदर्भ में डॉ. रमेश गौतम का कथन सार्थक लगता है कि "नाटक की कथा है, पौराणिक आदिम समाज व्यवस्था की, किन्तु जगदीशचन्द्र माथुर ने वैदिककालीन पात्रों, प्रसंगों और स्थितियों के माध्यम से रंगमंच पर समसामयिक समस्याओं का विश्लेषण किया है । तथा वर्तमान जीवन की गतियों पर प्रकाश डाला है ।"[2]

सत्ताधारी अपने अधिकार को कायम रखने के लिए राजनीति में किन-किन हथकण्डों को अपनाता है और शोषित जनता में निरंकुश सत्ता के विरुद्ध जागृति की चेतना किस परिस्थिति में उत्पन्न होती है उनका चित्रण लक्ष्मीनारायण लालने अपने नाटक "नरसिंह कथा" में किया है । सत्ता वह जो भी हो, निरंकुशता, स्वार्थपरता, आतंक, हिंसा और व्यक्ति स्वतंत्रता के हनन से ही अपना मार्ग सुगम बनाती है । आपात्काल के समय इस नाटक की रचना हुई थी और आपात्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप उसके मंचन में बाधा उपस्थित हुई । डा. लाल के ही शब्दों में "नरसिंह कथा नाटक की

---

1. पहला राजा - पृष्ठभूमि - जगदीशचन्द्र माथुर
2. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक - पृ. 60 - डा. रमेश गौतम

रचना सन् 1975 में की । उसी के आसपास यह प्रकाशित हुआ । यह मेरा पहला ऐसा नाटक था, जो रंगभूमि पर प्रस्तुत होने से पूर्व ही प्रकाशित हो गया । वे आपात्काल के दिन थे । कई रंगसंस्थाओं ने इसे तब खेलना चाहा पर खेल नहीं सके । आपात्काल के बाद यह खेला गया ।[1]

नाटक में हिरण्यकशिपु ऐसे एक तानाशाही शक्ति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत है जो अपनी शक्ति एवं बल पर अडिग विश्वास रखनेवाला है और अन्य किसी सत्ता को नहीं माननेवाला भी है । हर तानाशाह अपने हाथ में आये अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए निरीह जनता पर मनमानी करते है । जनता की कमज़ोरी का लाभ उठाते हुए उन्हें विभिन्न वर्गों में बाँटता है और उनकी शक्ति को शिथिल करते हुए वे खुद बलवान और ताकतवार बन जाते हैं । नाटक में हिरण्यकशिपु उससे भिन्न नहीं है ।

हिरण्यकशिपु की कार्यशैली समकालीन राजनीतिक दावपेंच की ओर संकेत करती हैं जो छोटे मोटे मामलों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करती हैं और उनको मूल प्रश्न से कोसों दूर हाँककर उलझा देती है । यह तो एक शासन तंत्र हा है कि जनता को विभिन्न रूप में बहकावा देते रहना । हिरण्यकशिपु जनता को ऐसे झूठे विचार देते हैं कि पडोसी देश उसका शत्रु है और देश की अखंडता खतरे में है ।

---

1. नरसिंह कथा - भूमिका - डा. लक्ष्मीनारायण लाल

अपने पुत्र प्रह्लाद एवं जनता के विद्रोह को अपने लक्ष्य के लिए हानिकर समझकर हिरण्यकशिपु देश में आपातकाल की घोषणा करता है जिसके द्वारा वह जनता की सारी स्वतंत्रतायें हडप लेता है । देश के अधिकांश लोगों को गुप्तचर या भेदिया बनाकर शासन के विरुद्ध क्रियाशील शक्तियों का पता लेने का वह प्रयत्न करता है । वह विद्रोह को दबाने की भरसक कोशिशें करता है जिसके लिए जनता में आतंक और भय फैला देता है कि यदि राजा के अलावा किसी और ताकत पर विश्वास करें तो वह सरासर राजद्रोह है । जो इस प्रकार करने की कोशिश करेगा उसे मौत की सजा मिलेगी । जनता पर वे कैसी कडी निगरानी रखते हैं यह वज्रदंत की बातों से स्पष्ट है "सीधे जाकर दायें तरफ मुड । बायीं ओर मुडना मना । ध्यान रहे राजमार्ग पर चलना, बोलना, खिडकियों से बाहर देखना, किसी तरह की शोर मचाना मना । दिन को सोना मना । कहीं कुछ कहना - सुनना अफवाहें फैलाना देश के साथ गद्दारी । राजधर्म के अलावा किसी और धर्म की चर्चा करना अपराध ।"[1]

राज्य में वर्णसंघर्ष का बीज बोने के लिए वह गुरुकुल को प्रचार केन्द्र बनाता है । गुरुकुल का गुरु शुक्राचार्य उन्हें उसके लिए सहायता देता है । शुक्राचार्य आज के शिक्षक वर्ग का प्रतिनिधि है जो अपने कर्तव्य को भूलकर सुख-सुविधाओं के लिए सत्ता के सामने सिर नवाते हैं और कुटिल राजनीति का प्रचारक बनते हैं । शुक्राचार्य का चरित्र समसामयिक शिक्षक वर्ग की ओर संकेत करता है जो अपने दायित्व को भूलकर सत्य के सामने अपने व्यक्तित्व की बिक्री

---

1. नरसिंह कथा - पृ. 21 - डा. लक्ष्मीनारायण लाल

करता है । ऐसे शुक्राचार्य के संबन्ध में हुतासन का शब्द सही निकलता है "गुरुकुल की याद मत दिलाओ । शुक्राचार्य गुरु नहीं हिरण्यकशिपु का खरीदा गुलाम । शिक्षा के नाम पर हमारे चित्त में बर्बादी के बीज बोया । शूद्र और अनार्य के सिद्धांत गढे । अपनी भूमि से हमें उखाडने के बीजमंत्र बोये ।"[1]

हरेक शासक अधिकार हथियाने के लिए ऐसा वादा करता है कि वह जनकल्याण के लिए काम करेगा । लेकिन उसे मिलते ही अपना वादा भूलता है और पूर्ववर्ती शासन की कमज़ोरियों को दुहराता रहता है । वास्तविकता तो यह है कि अधिकार में आने पर वह जनता की भलाई नहीं करता है फिर भी देश की रक्षा और अन्य अनेक कार्य संभालने का दावा करता रहता है । "नरसिंह कथा" में हिरण्यकशिपु ऐसे झूठे दावा करता हैं कि उसने ही राज्य को दुर्भिक्ष से बचाया है और उसने समाज में रक्षा और सुखशांति प्रदान किया है । उसकी राय में राज्य में अनेक दल थे और सब आपस में लड रहे थे । पड़ोसी अरक्रमण करने का मौका देख रहा था और अधिकार पाकर खुद उसने राज्य की रक्षा की है ।

हिरण्यकशिपु जैसे निरंकुश शासक अधिकार के पीछे पडकर खुनी रिश्तों को अनदेखा करता है । वह पत्नी और पुत्र का तिरस्कार करता है । यहाँ तक कि अपशकुन हटाने के लिए वह घडे से शादी करने के लिए

---

1. नरसिंह कथा - पृ. 22 - डा. लक्ष्मीनारायण लाल

तैयार हो जाता है और नवविवाहिता घडे की हत्या भी करता है । हिरण्य-कशिपु की पत्नी कयाधु के अनुसार घडा प्रजा का प्रतीक है ।[1] शुक्राचार्य द्वारा पिता और पुत्र के बीच समझौते का यत्न भी चलता है जो असफल निकलता है । हुतासन को प्रधानमंत्री पद देने का वादा देकर प्रह्लाद की हत्या करने की योजना बनाता है । प्रजातंत्र का लबादा ओढकर तानाशाही सत्ता का अत्याचार और उसके अमानवीय हथकंडों को लाल ने नाटक में प्रस्तुत किया है ।

जब कभी सत्ता के दुराचार एवं आतंक चरमसीमा पर पहुँचते हैं तब समाज कलुषित एवं मानवजीवन दर्दनाक हो जाते हैं । टूटे हुए समाज को सुधारने के लिए कोई न कोई क्रांतिकारी व्यक्तित्व उठ खडा होता है जो जनता को अपनी कमज़ोरियों से अवगत कराकर उन्हें उसकी कायरता से मुक्त कराने का खूब परिश्रम करता है और उसमें विजयी निकलता भी है । प्रह्लाद ऐसा एक व्यक्ति है जो जनराशि को एकत्रित करते हुए समाज में क्रांति का बीज बोता है । प्रह्लाद समझता है कि हरेक तानाशाही की शक्ति जनता की शक्तिहीनता ही है । उसका कथन है "विषमता के अन्धकार में हिरण्यकशिपु यहाँ का राजा बना है । अपनी शक्ति से नहीं हमारी कमज़ोरियों से । आर्य, अनार्य, जाति धर्म की आपसी फूट, नीच ऊँच, सवर्ण-शूद्र के भेद में से आया है वह तानाशाह ।"[2] उसने अवैध होने का वर प्राप्त किया है । यदि उसे कोई मनुष्य मारे तो तानाशाही की फिर भी उत्पन्न होने की संभावना है । "हिरण्यकशिपु जैसे शक्तिशाली निरंकुश राजा को न कोई मनुष्य मार

---

1. नरसिंह कथा - पृ. 38 - डा.लक्ष्मीनारायण लाल
2. नरसिंह कथा - पृ. 26 - डा. लक्ष्मीनारायण लाल

सकता है न कोई पशु । नर और पशु का जो सर्वश्रेष्ठ तत्व है उससे मिलकर जो नरसिंह बनता है वही ऐसे हिरण्यकशिपु को मार सकता है अन्यथा वह अवध्य है । निरंकुश, तानाशाह से निरंकुश ही पैदा होगा, अगर निरंकुश राजा की हत्या कोई एक मनुष्य करेगी । निरंकुश शासन के बाद प्रजातंत्र, गणतंत्र पैदा हो, उसी के लिए नरसिंह चाहिए ।"[1]

यों समकालीन राजनीति में व्याप्त कूटनीतिज्ञता एवं दाँवपेंच का बखूबी चित्रण इस नाटक में हुआ है । नाटककार ने ही कहा है कि यह कैसी पौराणिक कथा है ये कैसे पौराणिक चरित्र हैं जिसमें जीवन के कितने गहन और आधुनिकतम संघर्ष प्रश्नों की ओर जैसे सार्थक संकेत है । एक ओर हिरण्यकशिपु है जो एक तरह से अवध्य है । जो इतनी इतनी शक्तियों, साधनों का स्वामी है और दूसरी ओर प्रह्लाद..... सहज, सरल, साधनहीन, प्रेममय, रागद्वेष से ऊपर उठा हुआ । जो घृणा करत है पर जिसमें घृणा नहीं है प्रतिक्रिया नहीं है । जो हिरण्यकशिपु जैसी बर्बर, निरंकुश शक्ति और अधिनायक के स्व आरोपित सत्ता से लड रहा है मानव मूल्यों की बुनियादी स्वतंत्रता के लिए ।"[2]

समाज में सत्ताधारियों एवं सवर्णों के द्वारा पिछडी जातियों के शोषण और राजनीतिज्ञों के निहित स्वार्थ के लिए किये जानेवाले आतंक एवं

---

1. नरसिंह कथा - पृ. 58 - डा. लक्ष्मीनारायण लाल
2. नरसिंह कथा - भूमिका - डा. लक्ष्मीनारायण लाल

अत्याचार को लक्ष्मीनारायण लाल ने "एक सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक में उभारा है । भारत में संविधान द्वारा सभी जातियों को समान अधिकार दिया गया है । लेकिन उसका उल्टा ही होता रहा है । उच्च वर्ग के लोग हरिजनों और पिछडे वर्गों के लोगों की आज भी उपेक्षा करते हैं और वे शोषण का शिकार बनते जा रहे हैं । समाज में मैत्री एवं सहयोग का ढोंग रचानेवाले राजनेता भी वास्तव में इन जातिपाँति और वर्ग-वर्ण भेद को बढावा देते है और उससे लाभ उठाते हैं । ये किसी वर्ग का पक्षधर नहीं । लेकिन इनका लक्ष्य जनकल्याण के विरुद्ध समाज में अशांति उत्पन्न कर अपने मार्ग को सुगम बनाता है । समाज जितना भी आगे बढे लेकिन सवर्णों के मन से अवर्णों के प्रति सहानुभूति और प्रेम नहीं होते और उन्हें मनुष्य के समान कभी नहीं मानते । उन्हें कभी भी बोलने का अवसर नहीं दिया जाता है इसलिए उनका जो प्रश्न है वह अनकहा ही रह जाता है । इस अवर्ण शोषित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में लौका नाटक में आता है । वह अनपढ अज्ञानी जनता में चेतना भरना चाहता है । इसलिए वह स्वयं सत्यनारायण की कथा सुनाने की योजना बनाता है । लौका इस कथा की प्रस्तुति करते हुए गाँव की अज्ञानी जनता को अपने प्रश्नों से अवगत कराना चाहता है । वह भावना पर जीनेवाले ग्रामवासियों को यथार्थ से अवगत कराना चाहता है ।

गाँववालों में जागरण पैदा करने की लौका की प्रवृत्ति से देवधर संतुष्ट नहीं है । क्योंकि यदि मूर्ख गाँववाले सोचना शुरू करें तो उसका स्थान नष्ट हो जाएगा । मन की आशंका उसकी बातों से स्पष्ट है -

"तुम नहीं समझते ? अगर इस तरह लोगों ने सोचना शुरू कर लिया तो हम कहीं के न रहेंगे । लोगों को भडकाकर हमारी बुनियाद ही उलट देना चाहता है । लोगों पर इसका प्रभाव है । कहा है राजनीति ने जीवन के मंदिर को उल्टे खडा कर दिया है । बडी खतरनाक बात है ।"[1] लौका की बातों का इलाके में जो धाक है वह देवधर को परेशान बनाता है ।

सदियों से सवर्णों की दासता का शिकार बनी पिछडी जनजाति में एक प्रकार के जागरण की चेतना पैदा हुई है । जीवन के अनवगत संघर्षों एवं सवर्णों के शोषण ने गाँव की पूरी जनता की ज़िन्दगी को तबाह कर दिया । अभी तक वे थोपा हुआ जीवन ही बिता रहा था कुछ अवधि के बाद तो सही पिछडी जनजातियों ने इस सत्य का साक्षात्कार किया कि उनके समर्पण भाव के कारण ही वे बुरी तरह शोषण की चक्की में पिसी जा रही है । यहाँ नाटककार ने पौराणिक प्रसंग को एक नये सिरे से प्रस्तुत किया है । पौराणिक कथा में इन्द्र की परीक्षा के बिना प्रश्न किये समर्पण भाव से हरिश्चन्द्र भोगता रहता है । लेकिन नाटक में हरिश्चन्द्र की भूमिका निभानेवाला लौका इन्द्र की भूमिका निभानेवाले देवधर को चुनौती देता है कि अब उसकी बारी है और उसे भी परीक्षा देनी है ।

आज की राजनीति में नेतालोग समाज में सांप्रदायिक संघर्ष एवं वर्गसंघर्ष को कायम रखना चाहते है । ये लोग समझते है कि आपसी स्पर्धा

---

1. एक सत्यहरिश्चन्द्र - पृ. 26 - लक्ष्मीनारायण लाल

एवं संघर्ष जनशक्ति को एकत्रित न होने देंगे । नाटक में देवधर ऐसा एक अवसरवादी राजनेता है जो जनता को अज्ञान के मार्ग पर भटकाता है । सवर्ण और अवर्णों में जो भेदभाव की दृष्टि है उसे मिटाना उसने कभी नहीं चाहा । क्योंकि सवर्ण होने के नाते देवधर के अन्तर्मन में अवर्ण के प्रति जो रूढमूल घृणा है उसे वह कभी भी छोड नहीं सकता । जब शूद्र लौका द्वारा सत्य नारायण की कथा कहे जाने की खबर मिलती है तो देवधर वह पसन्द नहीं करता । वह विश्वास करता है कि अब्राह्मण और शूद्र ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं है और शूद्र को वेद पढने या सुनने का अधिकार नहीं है । नाटक में देवधर के चरित्र में आधुनिक युग के सवर्ण राजनेता का रंग ही चढा हुआ है जो शोषित जनजाति बहुत कहता मगर परंपरा से होनेवाले शोषण का अन्त करना नहीं चाहता ।

शूद्र द्वारा सत्य नारायण कथा कही जाने की बात को लेकर सांप्रदायिकता की आग लगाने में देवधर नहीं हिचकता । समाज में अशान्ति पैदा करते हुए वह जनता को आपस में टकराने में सफल होता है । अपने अनुयायियों से देवधर का कथन उसकी कूटनीति का परिचायक है । "इन गाँवों में ब्राह्मणों को भडका - दो, चमार शूद्रों के खिलाफ । सत्य नारायण की कथा लौका कहने जा रहा है । आग लगाने के लिए इतना काफी है ।"[1] देवधर के कुतंत्र के फलस्वरूप गाँव में हरिजन और ब्राह्मण के बीच दंगा होता है और दूसरी ओर लौका से मित्रता दिखाते हुए सत्यनारायण कथा के नाटक में इन्द्र का रोल करता है ।

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - पृ. 24 - लक्ष्मीनारायण लाल

देवधर जैसे अवसरवादी नेता अपने मार्ग के रोडे को हमेशा के लिए हटाने की कोशिश करता है और जिसमें विद्रोह की चिनगारी दीख पडती है उसे बुझा देना चाहता है । लौका को अपने खिलाफ आवाज़ उठाते हुए देख उसकी हत्या करने की साजिश वह रचता है ।

जब शोषित जनता को इस कुतंत्र का पता चलते हैं तो उसमें विद्रोह जाग उठते हैं । जीवन के ये शब्द इसका स्पष्ट प्रमाण है । "हम सब हरिश्चन्द्र है तुम्हारी सत्ताधारी राजनीति में । वहाँ राजा इन्द्र एक था यहाँ राजा इन्द्र असंख्य है - पुलिस है - पुलिस, अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, मुण्डा..... यही है तुम्हारी राजनीति । वह अन्धकार ।"[1] सत्ता के बल पर झूठे सत्ता का बोझ हरिश्चन्द्र पर डालकर इन्द्र उसका शोषण करता है । हरिश्चन्द्र को स्वर्ग भेजने का झूठा वादा देकर आजीवन तंग करनेवाले राजनीति के छलकपट को नाटक में दर्शाया है । शोषण के बेरहम परिवेश में बेज़ुबान खडे रहनेवाली जनता के संबन्ध में रमेश गौतम की राय है "इस नाटक में हरिश्चन्द्र का नाटक खेलनेवाले वही लोग (लौका और उसके साथी) हैं जिन्होंने पहले राजा के अन्धविश्वासी धर्म का और आज सत्ताधारी सवर्ण राजनीति के भय आतंक हिंसा को भोगा है और अब तक भोगते जा रहे हैं ।"[2]

डा. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक में एक सामान्य कथा

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - पृ. 56 - लक्ष्मीनारायण लाल
2. समकालीनता के अर्तातोन्मुखी नाटक - पृ. 123 - डा. रमेश गौतम

और एक पौराणिक कथा को यों गूँथ लिया है कि दोनों कथायें अलग अलग नहीं एक ही लगती हैं । नाटक के पूर्वरंग में पाल जेकब ने कहा है कि "सत्यनारायण की कथा कहने के लिए वह अपने नायक लौका द्वारा सत्य हरिश्चन्द्र की नौटंकी कराते हैं । इस कथ्य अभिनय को प्रस्तुत करनेवाले लोग हैं वे जो सदियों से धर्म, जातपांत, नीच-ऊँच की बलिवेदी पर शक्तिशाली लोगों द्वारा शोषित और प्रतारण का स्वरूप संपूर्ण है - क्योंकि इसमें अब धर्म का भय, और राजनीति की हिंसा दोनों का समयोग है । सत्ता और प्रजा, राजनीति और लोक दोनों का सीधा साक्षात्कार हमारी आंखों के सामने यहाँ प्रस्तुत होता है ।"[1]

स्वेच्छाचारी शासक द्वारा जनता पर किये जानेवाले अन्याय और अत्याचार को दया प्रकाश सिन्हा ने "कथा एक कंस की" नाटक में अंकित किया है । हरेक युग का शासक सत्ता के चाल-चलन के इस सत्य से अवगत है कि अमानवीयता, अत्याचार और अन्याय ही शासन के मुख्य उपादान है । यह गलत धारणा ऐसे शासकों के मन में रूढमूल हो चुकी है कि दया और अहिंसा से सत्ता सुदृढ नहीं बनती बल्कि उसके नष्ट होने की संभावना है । कंस के पिता उग्रसेन को शांतिप्रिय, कलाप्रिय और अहिंसावादी पुत्र एक अयोग्य शासक ही दिखायी पडता है । इसी कारण वह अपने पुत्र से घृणा करता है और उसे नपुंसक मानता है । उग्रसेन इस बात से अवगत था कि मानव सहज कोमल भावनायें किसी भी शासक को जीवन में आगे बढने न देंगी ।

---

1. एक सत्य हरिश्चन्द्र - पूर्वरंग - लक्ष्मीनारायण लाल

G5630
UNIVERSITY LIBRARY
COCHIN - 682 022
UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

कंस की यह आशंका है कि पिता उसे अधिकार न देंगे । यही आशंका उसे सत्तामोही बना देती है और किसी न किसी प्रकार अधिकार हडपने का मार्ग अपनाता है । सबसे नीच मार्ग से कंस ने पिता से शासन हडप लिया । अधिकार मोह की छटपटाहट में वह सारे संबंधों को नकारता है । अपने पिता पर अनेक आरोप लगाकर छल से उसे कारावास भेजता है । पिता पर उसका इल्जाम यह था कि उसके पिता ने शूरवंशी यादवों का सहयोग प्राप्त करने के लिए देवकी का विवाह वसुदेव से कर डाला है और कंस के स्थान पर वसुदेव को वह यादव संघ का राजा बनाना चाहता है । अपने पिता के अलावा प्यारी बहिन देवकी और उसके पति वसुदेव को भी वह छोड नहीं सकता था क्योंकि सब लोगों को वह अपने विरुद्ध महसूस कर रहा था । वसुदेव को उसने यादवों का शत्रु माना । क्योंकि वसुदेव की बहन कुन्तीभी कुरु राजा पांडु को ब्याहा है इसलिए वसुदेव मथुरा का राज्य हस्तिनापुर को देना चाहता है । वसुदेव पर आरोप लगाता है कि वह कुरुवंशियों का दलाल है ।

सत्ता को कायम रखने के लिए देश रक्षा की आड में अत्याचार करना राजनीति की एक नीति बनी है । अपने स्थान और सुविधा के लिए नेता जनता के बीच झूठे समाचार फैलाते हैं और उस अन्धेरे में उसे भटकाते हैं । जनता के बीच कंस इस प्रकार की वार्ता फैलाता है कि, देश रक्षा केलिए ही उसने यादव सभा को हटाकर पूरी सत्ता ग्रहण की है और अन्धक, वृष्णि, शूर, भोज आदि सभी यादवों को एक साथ जोडकर शक्तिशाली यादव राष्ट्र का निर्माण ही उसका लक्ष्य है । नाटक में कंस की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता आपातकालीन भारतीय परिवेश से मेल खाती है जहाँ जनता को बहकावा देकर

शासक अपने अधिकार को सुरक्षित रखता है । अपने विरुद्ध खडे होनेवालों का दमन किया जाता है । सत्ता के विरुद्ध कुछ बोलने और करनेवालों को कुचला दिया जाता है । कंस के सेनापति के इन शब्दों में प्रजा पर होनेवाला दमन द्रष्टव्य है । "यादव पराजित हो गये हैं, जिसने सिर उठाया, सिर काट दिया गया । जिसने आँख दिखाई आँख निकाल ली गयी ।"[1]

सत्ता हाथ से छूट जाने की चिन्ता हर निरंकुश शासक को सताती है । इसी चिन्ता से प्रेरित होकर कंस अधिक अत्याचारी और क्रूर बन जाता है । उसकी आशंका यह है कि सैनिक, सेनानायक सब मिलकर उसके विरुद्ध साजिश चला रहे हैं । इसलिए वह अपने विश्वास पात्रों और सहायकों को अविश्वास करता है । अपने सेनापति से कंस के ये शब्द इसके परिचायक है । "हमें घर घर का समाचार मिलना चाहिए पत्नी के विरुद्ध पति से, पति के विरुद्ध पत्नी से ।"[2]

सेनानायकों जैसे प्रलम्ब और प्रधोत पर दृष्टि रखने के लिए वह विभिन्न तंत्रों का सुझाव रखता है । प्रलम्ब से प्रधोत पर निगाह रखने की सलाह देता है और प्रधोत पर ध्यान रखने के लिए अपनी प्रेयसी स्वाती का प्रधोत से शादी करवाता है ।

---

1. कथा एक कंस की - पृ. 47 - दयाप्रकाश सिन्हा
2. कथा एक कंस की - पृ. 52 - दयाप्रकाश सिन्हा

सत्ता का दंभ अन्य स्वेच्छाचारियों के समान कंस को भी अहंग्रस्त बनाता है । वह अपने को सर्वशक्तिमान और सर्वपूजित मानता है । कंस के अत्याचारी शासन से तंग आकर प्रजा में विद्रोह की भावना जाग उठती है । कृष्ण की वंशी की ध्वनि इस विद्रोह का प्रतीक है । यादवों के विद्रोह करने पर मगध सैनिकों द्वारा उनके छिपे हुए मन्दिरों में आग लगायी जाती है और यहाँ तक कि आराधना करने की जनता का जो हक है उसे तक कंस हडप लेता है । कंस स्वयं स्वीकार करता है कि उसने उन सभी लोगों का नाश किया जो उनके विरुद्ध थे और इसलिए कृष्ण को ढूँढकर उसकी हत्या करने के लिए वह उत्सुक होता है । उनके ही शब्दों में "मैं ने तो हत्या की है, उस प्रतिवर्ग की जो मेरा गर्व सहन नहीं कर सकता, चाहे वह पत्नी हो, मित्र हो, बहिन हो या पिता हो, उसे नष्ट होना ही है ।"[1]

जनता की ओर से होनेवाले विद्रोह के प्रति भय एवं घबराहट हर एक स्वार्थी सत्ता लोलुप महत्वाकांक्षी व्यक्ति की नियति है । अपने को स्वयं शक्तिशाली और भगवान तक घोषित करने पर भी वह भय और आशंका की छाया में जीता है । भीतर ही भीतर वह डरता रहता है । इसलिए सुरक्षा के अन्दर रहने पर भी कंस को राजमहल के भीतर कृष्ण की वंशी की ध्वनि हमेशा सुनायी पडती है । कंस के मन में कोमल भावनाओं के लिए स्थान नहीं रहता पर वहाँ भय, आशंका, नैराश्य, व्यग्रता आदि समा जाती है । कंस की इस स्थिति हिटलर की अंतिम अवस्था से मेल खाती है । स्वयं

---

1. कथा एक कंस की - पृ. 80 - दयाप्रकाश सिन्हा

नाटककार ने उस अवस्था को हरेक निरंकुश सभा की नियति कहा है । उनके शब्दों में "अपनी उपलब्धि के शिखर पर खडा एकाकी प्रेत-सा वह अपने बंकर में बिलकुल असहाय अकेला था, जब उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया । यदि विश्लेषण किया जाये तो सब ही नृशंस, अत्याचारी शासकों का, जो केवल आत्म सत्ता स्थापित करना चाहते हैं, जीवन का "कर्व" इन्हीं निश्चित दिशाओं में बढता है ।"[1]

पौराणिक पात्र कंस के माध्यम से नाटककार ने हर युग के निरंकुश शासक के व्यक्तित्व की ओर संकेत किया है । उनके ही शब्दों में यह स्पष्ट होता है जैसे "मैं ने कंस के द्वारा उस व्यक्ति तंत्री स्वेच्छाचारी शासकों के निर्माण और विनाश का अन्वेषण किया है । जिनका समय समय पर इतिहास के विभिन्न मोडों पर आविर्भाव हुआ है चाहे वह कंस हो या औरंगज़ेब या हिटलर या मुस्सोलिनी ।"[2]

सत्तामोह में व्यग्र तथा उसे हथियाने के लिए आपस में मार-पीट करनेवाले राजनीतिज्ञ आधुनिक युग की एक विसंगति है । इस संघर्ष में वे जनता और देश को भूल जाते हैं । ऐसी परिस्थिति का अंकन सूर्यमुख नाटक द्वारा लक्ष्मी नारायण लाल ने किया है । अधिकार मोह से उत्पन्न आपसी टकराहट देश को नेतृत्वहीन बनाती है एवं परिस्थितियों को

---

1. कथा एक कंस की - भूमिका - दयाप्रकाश सिन्हा
2. कथा एक कंस की - पृ. 12 - दयाप्रकाश सिन्हा

ह्रासोन्मुख भी । लक्ष्मी नारायण लाल ने इस नाटक में द्वारिका की ऐसी नेतृत्वहीन स्थिति को दिखाया है । राजा उग्रसेन रोगशय्या पर है । अधिकार प्राप्त करने के लिए कृष्ण के पुत्रों के बीच संघर्ष होता रहता है । वभ्रु अपने को भोजवंशी कहता है और सारे भोज यदुवंशी उसके दल में है । साम्ब शिनिवंशी यादवों का नायक है । यदुवंशियों का और एक दल है वृष्णिवंश जो प्रद्युम्न को अपना नेता माननेवाला है । वास्तव में कृष्ण ने महाभारत युद्ध के बाद अपनी नारायणी सेना को भंग करने का आदेश दिया था लेकिन राज्यलिप्सा के कारण वे सब टुकडे-टुकडे होकर आपस में लडने लगे । कृष्ण के हत्यारा जरा को पकडकर वे अपने अपने ढंग से उसे दण्ड देना चाहते है और अपने को सिंहासन-अधिकारी बनाने में उत्सुक है । वभ्रु का इस कथन स्वार्थ लिप्सा से भरा हुआ है । "जरा मेरा है । मृत्यु शय्या पर पडे महाराजा उग्रसेन की मृत्यु के बाद मैं द्वारिका का सिंहासन लूँगा । इस अधिकार के लिए नगरवासियों के सामने मैं स्वयं जरा को प्राणदण्ड दूँगा । इसे खींचकर ले चलो ।"[1] डा. लक्ष्मीनारायण लाल ने यहाँ अधिकार हथियाने के लिए आपस में लडते-भिडते समकालीन राजनीतिक दलों का पोल खोल दिया है । देश के भविष्य और उसकी अखण्डता की परवाह के बिना ये लोग अधिकार हथियाने की होड में दत्तचित्त हैं । इस होड में ये सारे आदर्श एवं आचरण को भूल देते हैं ।

सिंहासन प्राप्त करने की छटपटाहट में कोई व्यक्ति द्वारिका की रक्षा नहीं करता है । द्वारिका पर कालकोप हो गया है । समुद्र ने उसके

---

1. सूर्यमुख - पृ. 11 - लक्ष्मीनारायण लाल

उत्तरी भाग को डुबो दिया । कृषकों की धरती और भण्डारे की नावें आदि समुद्र में डूब गयी है । इस प्रकार अपने घर, जमीन-जायदाद और रोज़गार से वंचित होकर लोग भिखारी बन गये हैं । ऐसी परिस्थिति में भी नष्ट भ्रष्ट द्वारिका को उद्धारने का कार्य कोई भी नहीं करता है । व्यासपुत्र के शब्दों में द्वारिका की स्थिति अधिक उभर आती है । "दक्षिण दिशा से उत्तरोत्तर समुद्र बढता चला आ रहा है, पर उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं । नगर में रोगियों और भिखारियों की संख्या इतनी बढ गयी है कि मार्ग पर चलना कठिन है । वस्तुओं के दाम इतने बढ गये हैं कि मनुष्य अपने को बेचकर भी उन्हें नहीं खरीद पाता । राजा उग्रसेन मृत्यु शय्या पर पडे हैं । वभ्रु और साम्ब राजपद के लिए युद्धरत है । सारी नारायणी सेना अलग-अलग शिविरों में बैठकर हिंसा, लूट और व्यभिचार में डूबे हैं ।"[1] नाटककार ने राज्य की जर्जरित स्थिति को अनदेखा करनेवाले नेतृवर्ग की ओर यहाँ संकेत किया है । यहाँ तक कि वे देश की लूटपाट करने में भी न हिचकते । उसका लक्ष्य देश की उन्नति नहीं वरन् अपनी कार्यसिद्धि है । नाटक में उग्रसेन की मृत्यु के बाद प्रद्युम्न विजय प्राप्त करता है । लेकिन राजमुकुट को प्राप्त करने में वभ्रु असमर्थ निकलता है तो वह द्वारिका को लूटकर आग भी लगा देता है ।

पौराणिक चरित्रों को प्रस्तुत करते हुए लाल ने इस नाटक में आधुनिक युगीन सन्दर्भ को ही उभारा है । प्रद्युम्न और वेनुरति के प्रेम को मुख्य कथा बनाते हुए लक्ष्मी नारायण लाल ने भ्रष्ट राजनीति के आन्तरिक पहलुओं को पकडने का प्रयत्न किया है जिसमें वे सफल निकले है ।

---

1. सूर्यमुख - पृ. 17 - लक्ष्मीनारायण लाल

जनता को दबाकर उसे प्रश्नहीन बनाये रखनेवाली राजनीति की स्वार्थान्धता को गिरिराज किशोर ने "प्रजा ही रहने दो" नाटक में शब्दबद्ध किया है । आधुनिक राजनीति की ऐसी परिणति है कि शासक वर्ग अपने अधिकार को कायम रखने के लिए मात्र नहीं बल्कि उसको विरासत के रूप में ज़ारी रखने के लिए भी क्रियाशील हैं । इस अन्धी दौड में वे सत्य, न्याय, दया आदि अनदेखा करते हैं । आम जनता बिलकुल उपेक्षित रह जाती है । आज के समाज में राजा और प्रजा का संबंध, राजा द्वारा प्रजा के उद्धार के लिए नहीं, राजा के स्वार्थ लाभों के लिए मात्र उपयोग किया जाता है । सन्तान मोह और सत्ता की भूख जैसी दुर्बलतायें समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों को कितना कलुषित बनाती है उस स्थिति की ओर नाटककार ने यहाँ संकेत किया है । आज अधिकार प्राप्त नेता न उसे खोना चाहते है और उस पद को किसी न किसी प्रकार अपने पुत्र-पुत्रियों को दिलाने के लिए हिकमतें बनाते हैं । इस लडाई में अपने शत्रु को पराजित करने के लिए किसी भी कुत्सित मार्ग अपनाने में उसको कोई संकोच नहीं रहता ।

इस संदर्भ का प्रस्तुतीकरण नाटककार ने महाभारत कथा के अन्धे राजा धृतराष्ट्र और आँखों पर पट्टी बाँधकर अन्धापन स्वीकारनेवाली गान्धारी से किया है । एक ओर उनके मन में सन्तान के साथ ममता है दूसरी ओर अधिकार की लालसा । इसलिए अपने पुत्रों के असत्य और अन्याय को देखने में असमर्थ निकलते हैं । वास्तव में उन दोनों की अन्धता आँखों की नहीं मन के स्वार्थ की है । वास्तविक अधिकारी होने पर भी वे पाँडु पुत्र को

राज्य देने के बजाय अपने परिवार में सत्ता को सीमित रखना चाहते हैं । सुयोधन और शकुनि दोनों ने मिलकर पाण्डवों के विनाश के लिए जिन कुतंत्रों को अपनाया, उन सबको वे अपने अन्धेपन से ढकते रहे और प्रजा को भी अपने अन्धेपन की हिकमत से छलते रहे । मानव को दृष्टिहीन बना देनेवाली स्वार्थ राजनीति के प्रतिनिधि है धृतराष्ट्र और गाँधारी । धृतराष्ट्र विवेकहीन राजा का भी प्रतीक है जो अन्य स्वार्थी व्यक्ति के छलकपट एवं षड्यंत्र में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य होनेवाला है । गान्धारी के मन की कुटिलता को जनता उसके भाई शकुनि की जैसी कुटिलता मानती है । जो निजी स्वार्थ के लिए दूसरों को धोखा देने को नहीं हिचकते । जनता की राय में गान्धारी तो अन्धे राजा की रानी है लेकिन वह आँखें बन्द करते हुए भी सब कुछ देखने में समर्थ है । जब सुयोधन द्वारा युधिष्ठिर और शकुनि के बीच जुए के खेल का निर्णय हुआ तो धृतराष्ट्र किसी न किसी प्रकार गान्धारी से उसे रोकने को कहता है । धृतराष्ट्र की शंका यह है कि भीष्म चाचा, विदुर, द्रोण और कृपाचार्य क्या समझेंगे ? लेकिन गान्धारी इसके लिए तैयार नहीं होती, उसकी राय में एक बार लिया गया निर्णय, निर्णय ही होना चाहिए । उसे अनिर्णय की कोटि में रखना उचित नहीं है । वंश की मर्यादा को नहीं तोडने की धृतराष्ट्र का अनुरोध गान्धारी और सुयोधन ठुकराते हैं । सुयोधन अपने हितों की ओर से मुडना नहीं चाहता । शासक वर्ग का अहम्बोध उसके इस वक्तव्य में मुखरित होता है । "मैं अपने हितों की रक्षा एक राजा की तरह करना चाहता हूँ । अन्धा या नपुंसक बनकर प्राप्त नहीं करना चाहता । मैं अपने धर्म को पहचानता हूँ ।"[1]

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ. 18 - गिरिराज किशोर

सत्ता हडपने के लिए खेली गयी जुए रूपी कूटनीति की चाल ने पाण्डवों को परास्त किया साथ ही साथ महाभारत युद्ध की भी नींव डाली । हारे पाण्डवों को अपमानित करने के लिए भरी सभा में भाभी द्रौपदी को विवस्त्र करने की कोशिश की । कौरव की इस नीति आधुनिक राजनीति के इस छल-कपट से भिन्न नहीं जहाँ अधिकार मोह से विवेकहीन बने नेता किसी भी कीमत पर अपने विपक्षी की प्रतिष्ठा पर लाँछन लगाने में तुले बैठे हैं ।

आज के शासक प्रजा की भलाई की आड में अपने और अपनेवालों की भलाई को ही तरजीह देते हैं । सत्ता मोह की अन्धी दौड में प्रजा के प्रति अपने फर्ज भूल बैठते हैं । उसके लिए प्रजा केवल अनुशासन का पालन और शासकों की नीति और आज्ञाओं को भोगने के लिए ही[1] गिरिराज किशोर ने आधुनिक युग की जनता की इस बदकिस्मती को प्रहरियों, नागरिकों तथा द्रौपदी के माध्यम से दर्शाया है । नाटक में जब सुयोधन जुए की खेल की योजना बनाता है तो राज्य के सभी नागरिकों को यह आज्ञा दी जाती है कि उसी दिन सब लोग उस आयोजन में सम्मिलित हो जाए और यदि नहीं हो सके तो इस क्रीडा का आयोजन अपने अपने घर में हो जाए । नहीं चाहने पर भी जनता इस आज्ञा को पालन करने के लिए मज़बूर है । उद्घोषक का यह कथन प्रजा के इस अभिशाप की ओर प्रकाश डालता है । "राजाज्ञा से अधिक आवश्यक काम कौन सा हो सकता है । राजाज्ञायें ही पूरे समाज का जीवन संचालित करती है ।"[1] लोगों की असहायता इसमें है कि यदि वे राजाज्ञा

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ. 3 - गिरिराज किशोर

को तोड़ें तो उसका जीवन संकट में पड़ जाएगा । उनके मन में आशंका है कि उनके सामने शासकों का जो खौफनाक अन्धापन मुँह बाये खड़ा है वह धीरे धीरे पूरे समाज में फैल जाएगा और अन्ततः यह अन्धापन वतन और रैयत को निगलेगा । एक नागरिक की वाणी में यह शंका गूँज उठती है । "लगता है ये लोग प्रजा को भी गाँठ का पूरा और आँख का अन्धा बनाकर छोड़ेंगे ।"[1] राजा को अन्धेपन से वाकिफ होने पर भी उसके खिलाफ बोलने के लिए वे तैयार नहीं क्योंकि उसे मालूम है कि मुँह खोलना किसी भी शासक को पसन्द नहीं होता । वह प्रजा को हमेशा प्रजा ही रहने देना चाहता है ।

नाटक में जनता की मुसीबतों का ख्याल राजमहल के अन्तर रहनेवालों को नहीं होता । आज के शासक भी प्रजा के दुखदर्दों से अनभिज्ञ हैं या उसे अनसुना करता है । राजमहल के आसपास से रोने की आवाज़ आने पर एक प्रहरी का यह कथन शासक की इस मनोवृत्ति पर दृष्टिपात करने का नाटककार का प्रयास है "तुम उनका रोते सुनते हो, आँखों पर पट्टी बाँध लो । कानों में रूई ठूँस लो । बाहर से आनेवाला कोई स्वर मत सुनो ।"[2] और एक प्रहरी की शिकायत यह है कि राजमहल में लोग आते जाते हैं लेकिन वे उस पर नज़र नहीं डालते हैं । प्रणाम करने पर भी वे उत्तर नहीं देते हैं एक प्रहरी का यह कथन शासक वर्गों के इस तिरस्कार की ओर प्रकाश डालता है "हम ही नहीं दिखलाई पड़ते तो हमारा प्रणाम कहाँ से दिखलाई पड़ेगा ।"[3] प्रजा इस बात से अवगत हैं कि शासक की आँखें हमेशा के लिए बन्द हैं और

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ. 9 - गिरिराज किशोर
2. प्रजा ही रहने दो - पृ. 20 - गिरिराज किशोर
3. प्रजा ही रहने दो - पृ. 22 - गिरिराज किशोर

वे कभी भी नहीं खुलेंगी । वरणावत में पाण्डवों की निर्मम हत्या करने की जो साजिश सुयोधन ने चलायी उससे अवगत होते हुए भी धृतराष्ट्र की आँखें नहीं खुलती है । वे ज्योतिहीन ही रहती हैं लेकिन अपने हितों को देखने की दृष्टि उसमें है । इसलिए अन्धे राजा के बारे में प्रजा को यही सन्देह है कि वह दृष्टिसंपन्न है या दृष्टिहीन । प्रजा अपने को बेसहारा मानती हैं जिसका कहीं कोई आश्रय नहीं है । "मुझे सदा लगता है हम तीसरे वर्ग के प्राणी हैं । जिसकी न तो राजमहल में पूछ है और न समाज में ।"[1]

द्रौपदी के चरित्र के द्वारा नाटककार ने यहाँ प्रश्नहीन जनता का चित्र उभारा है । वह अपने अस्तित्व एवं शक्ति से अनभिज्ञ है । स्वार्थ लाभ के लिए पाण्डवों ने उसे जुए पर चढाया । द्रौपदी को दाँव पर लगाया जाना शासक द्वारा निरीह जनता को स्वार्थसिद्धि का साधन बनाये जाने का स्पष्ट प्रमाण है । अपने जीवन की विसंगतियाँ द्रौपदी को इस प्रकार सोचने के लिए विवश करती है कि वह रोटी का टुकडा है या राजनीति का उलझता हुआ सूत्र । सामान्य जनता को शासन से कभी मुक्ति नहीं मिलती । विदुर से द्रौपदी का कथन यही सूचित करता है । "आप की बात धीरज तो बंधाती पर दृष्टि नहीं । आप सब किसी न किसी रूप में राजपारवारों से जुडे हैं । हम दासवृत्ति से छूटे हुए सामान्य जन है । हमें अपना सुखदुख स्वयं ही भोगना है । पहले मैं समझती थी वर्ग छोडने के लिए संकल्प की आवश्यकता होती है पर अब लगता है चाहे मनुष्य संकल्प कर भी ले परन्तु सुविधा और सत्ता के रहते वर्गमुक्ति संभव नहीं ।"[2] समकालीन शासन और प्रजा की नियति को यहाँ दर्शाया गया है ।

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ.44-45-गिरिराज किशोर
2. प्रजा ही रहने दो - पृ.55-56- गिरिराज किशोर

नाटक में गिरिराज किशोर ने पौराणिक संदर्भ के अन्तर्गत आधुनिक युग के शासकों की स्वार्थलिप्तता और उनके द्वारा सामान्य जनता की उपेक्षा पर सफल रूप में प्रकाश डाला है । शेखर शर्मा का यह कथन सही लगता है कि "प्रजा ही रहने दो" के शीर्षक से स्पष्ट है कि सत्ताधारी लोग प्रजा को आम आदमी ही रहने देना चाहते हैं । वे यह नहीं चाहते कि प्रजा जागे और जागकर सामाजिक न्याय की अपने अधिकारों की माँग करें । यह नाटक भारत की उस जनता की वकालत है ; जिसने आज़ादी हाज़िल करने के लिए कुर्बानियाँ दी और जो आज अपने ही नेताओं - शासकों के पैरों तले कुचली जा रही है । उसे मूक बना दिया गया है । वह रोती है, चिल्लाती है परन्तु उसकी दुख-दर्द की पुकार कोई नहीं सुनता ।"[1]

आज मनुष्य अपने आदर्श और मूल्यों के बलबूते पर जीने में असमर्थ है । चाहे तो उसका कारण हमारी व्यवस्था हो या समाज । जो भी हो मनुष्य जीने के लिए अपने आदर्श, मूल्य सबकुछ गंवा देता है । ऐसी व्यवस्था के बागडोर चलानेवाले राजनीतिक शासक वर्ग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए सबका उपयोग करते हैं । शैक्षणिक संस्थायें तक राजनीतिज्ञों की दबाव से मुक्त नहीं । देखते देखते राजनीतिज्ञों का प्रभाव शिक्षकों एवं छात्रों को घेरता आ रहा है । शंकर शेष अपने नाटक में आधुनिक शिक्षा क्षेत्र की डरावनी सूरत का तस्वीर पेश करते हैं । जहाँ व्यवस्था के जंजीरों में बुरी तरह जकडे हुए एक अध्यापक, प्रोफ्सर अरविन्द का संघर्ष ही पूरे नाटक का कथ्य है ।

---

1. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक - पृ. 266 - शेखर शर्मा

सत्ता के साथ समझौता करनेवाले अध्यापक प्रोफ्सर अरविन्द को नाटककार ने पौराणिक पात्र द्रोणाचार्य से मेल कराया है, जो अपने व्यक्तित्व को पंगु एवं अपाहिज बना देने के लिए बाध्य होता है । इसलिए नाटक में इन दोनों को शंकर शेष ने समान धरातल पर खडा कर दिया है । द्रोणाचार्य को सत्ता से समझौते करते हुए अपनी आदर्श और अस्तित्व को खोना पडा और अपनी इच्छा के विरुद्ध अनीति और अत्याचार का साथ देना पडा । उसी प्रकार अरविन्द को भी जाने की लालसा अपने अधिकार एवं शक्ति से वंचित बना देती है और उसे निरपराध शिष्यों के जीवन बर्बाद करना पडता है ।

यदि व्यक्ति एक बार व्यवस्था के चंगुल में फँस जाए तो उससे बाहर आना मुश्किल है । किसी न किसी प्रकार जीवन काटने के लिए उसे सत्ता के सामने घुटने टेकना पडता है । सत्ता के कहने के अनुसार उसे सबकुछ करना पडता है । अपनी आँखों के सामने यदि अत्याचार देखता है तो फिर भी उसकी दृष्टि उस पर नहीं पडेगी । गलती को देखकर उसे गलती कहने से वह डरता है और सच्चाई की ओर आँखें मूँद लेता है ।

नाटक में प्रोफ्सर अरविन्द को ऐसे एक कठपुतली अध्यापक के रूप में प्रस्तुत किया गया है । वह स्वयं आदर्शवान और नीतिमान था । लेकिन वह खुद नहीं चाहने पर भी व्यवस्था की चाल से मुक्त नहीं हो सकता है । उसकी पत्नी लीला और मित्र यदु दोनों उससे व्यवस्था से समझौते करने को तथा समाज के बहाव के मुताबिक बहने का उपदेश देते हैं । प्रोफ्सर

अरविन्द को कभी कभी ऐसा एहसास भी होता है कि अपने पुराने मित्र विमलेंदु की आत्मा बीच बीच में उसे उपदेश देती रहती है । अरविन्द विमलेंदु की संघर्षपूर्ण ज़िन्दगी को भली भाँति जानता है । विमलेन्दु ने व्यवस्था से टकराकर कुटुंतिक्त अनुभव भोगा था और अन्त में व्यवस्था द्वारा कुचला गया था ।

ये लोग ऐसे उपदेश देते हैं कि यदि व्यवस्था से टकरायें तो उनको विमलेन्दु के जैसा अनुभव भोगना पड़ेगा । पत्नी और मित्र के उपदेशों से अरविन्द बिलकुल प्रभावित हो जाता है और सत्य और आदर्शों के उपासक प्रोफ़ेसर बहुत जल्दी अन्याय के हिमायती बनते है । इसलिए कालेज के निपुण विद्यार्थी चंदु को परीक्षा में नकल करने के ब्याज से निकाल दिया जाता है और असल में नकल करनेवाला, प्रेसिडेंड के पुत्र राजकुमार का रिपोर्ट प्रोफ़ेसर अरविन्द जान बूझकर वापस कर देता है जिसके बदले उसे प्रिंसिपल का पद मिलता है । कालेज की छात्रा अनुराधा पर राजकुमार द्वारा बलात्कार किये जाने का एकमात्र गवाही प्रिंसिपल अरविन्द ही था । मन ही मन वह चाहता था कि वह पुलिस पर इस बलात्कार का रिपोर्ट करके अनुराधा की मदद करे । लेकिन अपने ऊपर पन्द्रह हज़ार रुपये का इल्ज़ाम लगाने की, प्रेसिडेंट की धमकी से डरकर वह रिपोर्ट फाडकर अनुराधा पर अत्याचार करता है । वास्तविक मुजरिम को यों बचने देता है । उनकी यह उपेक्षा अनुराधा की खुदकुशी में परिणत हो जाती है । चन्दु के जीवन बर्बाद होने का और अनुराधा की आत्महत्या का कारण अरविन्द बन जाता है । आधुनिक युग के प्रोफ़ेसर अरविन्द की करनियाँ द्रोणाचार्य की करनियों के समान ही लगती है । द्रोणाचार्य ने

जीवन के अभाव से तंग आकर राजगुरू का पद स्वीकार किया जिससे उसके बोलने की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है । व्यवस्था से समझौता करके दोनों ने जीवन में कुछ सहूलियतें अर्जित की । ..... कृपि के इस वक्तव्य से यह बात स्पष्ट हो जाता है । "जानती हूँ । अनाज और कपडे की समस्या हमेशा के लिए मिट जाएगी । कुछ सम्मान से रह सकेंगे । तुम द्रुपद से बदला भी ले सकोगे ।"[1]

व्यवस्था से हुई समझौते के कारण धनुर्विद्या में निपुण अपने शिष्य एकलव्य से अंगूठे की गुरूदक्षिणा माँगकर वह घोर अन्याय करता है और भरी सभा में अत्याचारी कौरवों द्वारा द्रौपदी का अपमान होते वक्त उसे चुप्पी साधनी पडती है । यही उसे आगे चलकर सत्य और न्याय के विरूद्ध अनीति के पक्ष में लडने के लिए बाध्य कर देता है । एक निरीह शूद्र बालक से की गयी बेइनसाफी का फल द्रोणाचार्य को भोगना पडता है । अपने ही शिष्य सत्यवादी युधिष्ठिर द्वारा छलपूर्वक अत्याचार उसकी करनियों का ही परिणति है । बिलकुल बेकसूर होते हुए भी अरविन्द के ऊपर प्रेसिडेंट के हत्यारे का इल्जाम चंदू के गवाह के बल पर लगाया जाता है । ऐसी अभिशप्त नियति प्रोफेसर अरविन्द को शायद इसलिए भोगनी पडी है कि उसने दो निरीह आत्माओं याने चंदू और अनुराधा के साथ बेवफादारी की थी । यहाँ अतीत का द्रोणाचार्य और वर्तमान का प्रोफेसर अरविन्द समान स्थिति से गुज़रते हैं । जो सत्ता द्वारा पोषित और उसके सामने सिर नवानेवाला आज के शिक्षक वर्ग का प्रतिनिधि बनते हैं । विमलेंदु का यह कथन इस बात को स्पष्ट करनेवाला है ।

---

1. एक और द्रोणाचार्य - पृ. 48 - शंकर शेष

"तू द्रोणाचार्य है । व्यवस्था और सत्ता के कीडों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य । व्यवस्था के लाइटहाउस से अपनी दिशा माँगनेवाले टूटे जहाज़ सा द्रोणाचार्य ।"[1] पौराणिकता और आधुनिकता को आमने सामने दिखाकर शंकर शेष ने इस नाटक में समसामयिक युग के जलती समस्या की ओर इशारा किया है ।

शासन और कलाकार :-

रचनाकार समाज का सबसे अधिक संवेदनशील प्राणी है । सामान्य जनता से उसका अलगाव इसमें है कि वह वस्तु स्थितियों की छानबीन करता है और विवेक के साथ अनुभूत और भोगे हुए यथार्थ को संप्रेषित करने में समर्थ निकलता है । सृजन प्रक्रिया के लिए उसे कच्चे माल समाज से की मिलता है और उसके अन्तर तपकर वह पक्का हो जाता है । डा. हेतु भरद्वाज ने कहा है "सृजन प्रक्रिया का तथ्यपरक विश्लेषण करना शायद संभव नहीं है क्योंकि इसका संबंध रचनाकार के अन्तस में होनेवाले चेतन कार्यव्यापार से हैं जो अपने आप में बहुत सूक्ष्म होता है ।"[2] सृष्टि के प्रति कलाकार का रुख इसलिए इतनी अधिक हो जाता है ताकि उसके लिए अपने जीवन नष्ट करने के लिए भी कलाकार तैयार हो जाता है । सृजन के क्षणों में साहित्यकार कल्पना का सहारा ले सकता है लेकिन इनका परिवेश जो है वह हमेशा यथार्थ ही रहेगा, इसलिए सामाजिक यथार्थ को सृष्टि के द्वारा फिर समाज के सामने वह प्रस्तुत करता है ।

---

1. एक और द्रोणाचार्य - पृ. 108 - शंकर शेष
2. परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य - पृ. 18 - डा. हेतु भरद्वाज

यह एक सर्जनात्मक यात्रा है । "संवेदना को जीवन मूल्यों में बदलने तक की यात्रा रचनाकार के आन्तरिक जगत् में चलनेवाली यात्रा होती है ।"[1] साहित्यकार समाज की संस्कृति के विकास का शिल्पी है । वह सृजन के द्वारा परंपरा की रक्षा करता है । जनसाधारण की अनुभूतियों, संवेदनाओं और संघर्षों को वह समाज में प्रस्तुत करता है । इस प्रकार साहित्यकार जनसाधारण और सत्ता के बीच एक कड़ी के रूप में काम करता है ।

कलाकार का जीवन हमेशा संघर्षपूर्ण रहता है । मुख्यतः उसके दो कारण होते हैं एक सत्ता द्वारा उसका दमन और दूसरा जीवन की अन्य कठिनाइयाँ । व्यवस्था समाज के अनुशासन और सुरक्षा पर बल देती है । उसमें अनुशासन के बाद ही मानवीयता आती है । सच्चाई तो यह है कि मनुष्य के लिए व्यवस्था का आविष्कार होता है और फिर वही मनुष्य को बन्धन में रखती है । इसलिए प्रजातंत्र में भी व्यवस्था द्वारा दमन जारी रहता है । भारतीय संदर्भ में कहें तो 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ । तब तक जिस परतंत्रता का अनुभव हो रहा था वह सब समाप्त हो गया । संविधान द्वारा हर व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी गयी । लेकिन भारतीय साहित्यकारों को आज तक खुलकर बोलने की स्वतंत्रता नहीं मिली है । शासन किसी न किसी प्रकार उसपर नियंत्रण रखता ही है । कभी धन के मार्ग से और कभी पद देकर । शासन का इस प्रकार रोक लगाने का मुख्य कारण यह है कि कलाकार हमेशा मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता पर अडिग रहता है ।

---

1. परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य - पृ. 18 - डा. हेतु भरद्वाज

शासन द्वारा कलाकार व्यक्तित्व को आश्रय दिये जाने की परंपरा पुरातन काल से चल रही है । इस प्रकार व्यवस्था के आश्रय में रहकर उसकी इच्छा के मुताबिक अपनी लेखनी चलानेवाले भी थे और ऐसे लेखक भी थे जो अपने व्यक्तित्व और स्वतंत्रता को सत्ता के साथ कभी न गिरवी रखने के लिए तैयार थे । यों प्राचीनकाल से लेकर व्यवस्था और कलाकार के बीच एक तरह का आकर्षण और टकराहट हम देख सकते हैं ।

सत्ता द्वारा कलाकार को किसी भी प्रकार की मदद करने के पीछे स्वार्थता अवश्य मौजूद रहती है । यदि लेखक जरा भी शासन के विरुद्ध बोले या प्रजा के हित पर बोले तो उसकी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का हनन किया जाता है । कलाकार के लिए अभिव्यक्ति की स्वाधीनता जीवन के लिए प्राणवायु के समान अनिवार्य है । लेकिन आज तक किसी भी समाज में साहित्यकार पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है । कलाकार की स्वतंत्रता का समाज की स्वतंत्रता से गहरा संबंध है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को समाज की स्वतंत्रता से अलग करके नहीं देखा जा सकता है । कलाकार का दृष्टिकोण स्वतंत्र होता है । वह किसी घटना या मानसीय स्थिति का प्रस्तुतीकरण स्वतंत्र रूप से करता है और उसे समाज के सामने प्रस्तुत करता है । यदि उसकी स्वतंत्रता का दमन किया जाय तो उससे सच्चे साहित्य का सृजन नहीं होता । विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा है कि "वस्तुतः स्वतंत्रता सर्जनात्मकता का पर्याय है जो स्वतंत्र नहीं होता वह सर्जक नहीं हो सकता । दुनिया में जो कुछ भी सर्जन संभव हुआ है वह स्वतंत्रता के ही कारण । स्वतंत्रता से वंचित कला अंधी और गूँगी होती है

लेखक समाज की आँख होता है । उसकी अभिव्यक्ति को प्रतिबंधित करना अन्ततः समाज की चिन्तन और जीवनधारा को अवरुद्ध करना है ।"[1]

व्यवस्था वह जो भी हो हमेशा अपनी स्वार्थता और सुरक्षा के लिए सामाजिक शोषण करती है । और उसके लिए उसे समाज की स्वाधीनता को छीनना पडता है । सत्ता हमेशा शक्तिशाली होती है । यह समाज में अपना अधिकार जमाना चाहती है । सत्ता सदा यही चाहती है कि मात्र वही प्रश्न करती रहे दूसरे सुनते रहे । ऐसी एक अवस्था में कलाकार की स्वतंत्रता का स्वाहा स्वाभाविक है । यही वह बिन्दु है जहाँ से सत्ता और कलाकार के बीच संघर्ष शुरू होता है । यह संघर्ष वास्तव में सत्ता और जनसाधारण के बीच का है । समाज के प्रतिनिधि कलाकारों को पनपने का अवसर न देने का एक कारण लेखकों की जनवादी चेतना है । शैलाश मटियानी के शब्दों में "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का द्वन्द्व सरकारी तंत्र और जन समाज के बीच का द्वन्द्व है और चूँकि लेखक की कल्पना मानव समाज की अस्मिता और स्वाधीनता के प्रवक्ता के रूप में की जाती है इसलिए यह द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जब यह सीधे-सीधे सत्ता और लेखकों के बीच का द्वन्द्व बन जाता है ।"[2]

प्रत्येक व्यवस्था की अपनी रीति-नीति और स्वार्थता होती है । व्यवस्था समाज में अपने अधिकार को कायम रखने का इच्छुक है । अपने

---

1. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता - पृ. 111 - महीपासिंह
2. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता - पृ. 61 - महीपासिंह

अस्तित्व की रक्षा के लिए वह समाज के कुछ वर्गों का पोषण करती है और उनके सहारे अपने शत्रुओं का दमन करती है । सत्ता को इन बाहरी शक्तियों की मदद इसलिए लेनी पडती है कि यदि समाज के सभी लोग एक साथ उनका विरोध करें तो उसका अधिकार नष्ट हो जाएगा । समाज के भिन्न भिन्न धार्मिक और अन्य संस्थाओं तथा पूँजीपतियों का सहारा लेकर वह जन साधारण और कलाकार की स्वतंत्रता का अपहरण करती है ।

प्राचीनकाल से यह संघर्ष समाज में मौजूद था । गलीलियो ने जब एक शास्त्र सत्य का उद्घाटन किया तो उन्हें भी सत्ता से कठिनाइयाँ और यातनायें भोगनी पडी थी ।[1] यह घटना उस समाज में हुई जहाँ विज्ञान की इतनी प्रगति और उपयोग नहीं थे और जनता अन्धविश्वासों में जकडी हुई थी । लेकिन आज भी विभिन्न देशों में कलाकार के विरुद्ध षड्यंत्र चल रहे हैं । शासन की इच्छा और उसके आदेश के मुताबिक सृष्टि का चयन करना संभव नहीं है । हम देखते है कि इसरायेल को फिलिस्तीन में जो कब्जा है वहाँ फिलिस्तीन लेखकों की अनुमति नहीं है । रूस में साहित्य संबंधी मामलों की शासन समिति के रूप में पहले ग्लावलिट नामक एक संस्था थी और बाद में ग्लासनोस्ट नामक संस्था के अधिकारी साहित्यिक रचनाओं का सेंसर किया करते थे । इसके कारण अनेक रूसी लेखकों को अपनी रचनायें प्रकाशित करने की अनुमति नहीं मिली ।

---

1. Galileo was under house arrest for the final eight years of his life for having held and taught Copernican doctrine.
- The new encyclopedia britannica - P - 86.

लेखकों और विचारकों के पास अपने देश की जनता तक पहुँचने के लिए लेखन के सिवा और कोई साधन नहीं है । ऐसी स्थिति में अपनी बात कहने के लिए उसे किसी एक दल अथवा शासक-सत्ता का आश्रय ग्रहण करना पडता है परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच, अपनी ईमानदारी के कारण उसे विवश और निस्सहाय रहना पडता है ।
किसी एक पक्ष में प्रतिष्ठित साहित्यकार विपक्षी को शत्रु बन जाता है । हर राजनीतिक दल अपने स्वार्थ एवं लाभ के लिए काम करनेवाले सृजनकारों को मित्र और दूसरों को विरोधी मानते हैं । जो साहित्यकार किसी राजनीतिक नेता को सलाम करके उसके लिए काम करता है उसको पारितोषिक, फेलोशिप तथा अन्य सरकारी पद प्राप्त होगा । लेकिन जो उसके विपरीत चलेगा या जो सारे राजनीतिक दलों को डटकर आलोचना करता है उसकी दशा दयनीय बन जाता है ।

कलाकार के जीवन की और एक जटिल समस्या है अभावग्रस्तता । कलाकार यदि निम्न या मध्यवर्ग के होते है तो उसे इस पेशे में लगे रहने के कारण निश्चित आमदनी का अभाव होता है । यह अभावग्रस्तता कभी-कभी उसे सत्ता से या अन्य किसी संस्था से आश्रय लेने के लिए विवश करती है और आश्रयदाता की इच्छा के अनुसार उससे निश्चित राहों में चलना पडता है ।

"इस प्रसंग में साहित्यकार की आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न सबसे पहले सामने आता है । यदि एक लेखक आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर नहीं

जी सकता तो लेखक के रूप में उसके व्यक्तित्व का विकास कुंठित होने लगता है । आजीविका के लिए लेखक के अतिरिक्त अन्य साधनों पर निर्भर करनेवाले लेखक के जीवन में कई तरह के समझौते करने के लिए विवश होना पडता है और ये समझौते अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व को तोडते हैं ।"[1]

साहित्य की शक्ति को समझकर ही व्यवस्था हमेशा उसपर एक निगाह डालती रहती है । साहित्यकार की कमज़ोरियों को समझकर उसे भिन्न भिन्न मार्ग से अपने वश में लाने की प्रवृत्ति भी समाज में मौजूद है । पद, पुरस्कार एवं प्रतिष्ठा द्वारा उसे कभी कभी आसानी से खरीद लेता है । जो मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए बडे बडे आकर्षण होते हैं । अकादमियों, विश्व-विद्यालयों, संस्थाओं और सरकारी मंत्रालयों में ऊँचे पद देकर वे लेखक की प्रतिबद्धता को नष्ट कर देते हैं ।

इसप्रकार साहित्यकार की स्वतंत्रता हरेक समाज का प्रश्न ही है । डा. रघुवंश के अनुसार "ईमानदार और अपनी अभिव्यक्ति के प्रति निष्ठावान लेखकों की स्थिति हर दशा में लगभग इसी प्रकार है । यदि तानाशाही व्यवस्थावाले देश में यह नियंत्रण सरकारी है तो प्रजातांत्रिक देशों में वह अपनी परिस्थिति के कारण मजबूर हो जाता है कि किसी न किसी आश्रय को ग्रहण करें ।"[2] स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् की भारतीय

---

1. साहित्य और संस्कृति - पृ. 9 - मोहन राकेश
2. आधुनिक निबन्धावली - पृ. 111 - 112 - सं. डा. विद्यानिवास मिश्र ।

परिस्थितियाँ यहाँ उल्लेखनीय है । जब यहाँ अंग्रेज़ी शासन चल रहा था तब लेखकों को कटु अनुभव भोगना पडा था । स्वतंत्रता से पहले अपने को अभिव्यक्त करने की अनुमति उन्हें नहीं दी जाती थी । इस कारण प्रेमचन्द को अपनी रचनायें जलानी पडी थी और एक अलग नाम पर रचना करनी पडी थी । भारत में आपातकालीन संदर्भ में भी साहित्य पर पूरी तरह नियंत्रण लागू था ।

मोहन राकेश ने "आषाढ़ का एक दिन" में एक ऐसे रचनात्मक व्यक्तित्व से साक्षात्कार करने का प्रयास किया है । अभावग्रस्त जीवन बिताने पर भी स्वतंत्र अवस्था में रचना करनेवाले कलाकार और शासन के अधीन में वैभव संपन्न जीवन बिताते हुए अपने व्यक्तित्व से वंचित रहनेवाले कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व को मोहन राकेश ने शब्दबद्ध किया ।

समाज में कलाकार का स्वतंत्र व्यक्तित्व कई रूपों में अवरुद्ध हो जाता है । कभी कभी जानबूझकर उसे स्वतंत्रता को गंवाना पडता है और कभी कभी अनजाने ही वह उससे छीन लिया जाता है । शासन द्वारा पुरस्कार, वजीफा और विभिन्न पद आदि कलाकार के जीवन की गति में बाधायें उत्पन्न करते हैं । जीवन की अभावग्रस्तता कभी कभी ये सुविधायें प्राप्त करने के लिए उसे बाध्य करती है । और उसकी रचनात्मक व्यक्तित्व को अस्वतंत्रता की बेडियों में जकडा देती है । फलतः उसे अस्तित्व गंवाना पडता है । राकेश का कालिदास ऐसे एक व्यक्तित्व का स्वामी है जिसकी अभावग्रस्तता ने उसके व्यक्तित्व को खंडित किया । वह आत्मसीमित और अपने अहम को अक्षत

रखनेवाला व्यक्ति है । वह अपने गाँव से, वहाँ के सारे जीवजन्तुओं से और वहाँ की प्रकृति से आत्मीय संबंध रखनेवाला है । उसकी प्रणयिनी मल्लिका भी उसकी रचना के लिए भावना की प्रेरणा थी । परिवेश और मल्लिका को छोडकर राजकवि का आसन स्वीकारने के लिए उसका मन नहीं चाहता । फिर भी उसकी प्रेयसी मल्लिका उसे इसलिए मज़बूर करती है कि ग्रामप्रान्तर में अभावपूर्ण जीवन बिताते हुए कालिदास की प्रतिभा को विकसित होने का अवसर नहीं मिलेगा ।

दूसरों की अपेक्षाओं के अनुसार कोई भी कलाकार अपने व्यक्तित्व को रूपायित नहीं कर सकता । दूसरों की अपेक्षाओं की तहत ढलनेवाली उसकी कला कुंठित हो जाएगी । कालिदास उज्जयिनी जाकर और बाद में काश्मीर का शासक बनकर अपनी कला से वंचित होने का अनुभव करता है । इसलिए अन्त में सबकुछ छोडकर भाग निकलता है । रचयिता की स्वतंत्रता ही उसकी रचना की मूल शक्ति है और उससे वंचित रहने पर रचनाकार स्वयं मूल्यहीन और अधूरेपन का अनुभव करता है । इस सत्य को स्वयं नाटककार ने यों अभिव्यक्त किया है । "दूसरों की अपेक्षाओं के अनुसार अपने को ढालना यह केवल आत्मघात की प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती रह सकती है । परन्तु कुछ ऐसा क्रम है रोज़ की ज़िन्दगी का कि यह सब अनजाने में होता चलता है ।"[1]

हरेक कलाकार दुविधाग्रस्त मानसिकता के साथ ही सत्ता की सहायता स्वीकार करता है क्योंकि उसके मन में यह शंका रहती है कि

---

1. नटरंग 29 डायरी के पन्नों से - पृ. 94

जीवन की सुख सुविधायें एवं शान-शौकत प्राप्त करते हुए उसकी रचनात्मकता का क्या हाल होगा । नाटक में कालिदास के मन में यह शंका पहले उत्पन्न होती है कि राजकीय सम्मान स्वीकार करते हुए वह कैसा अनुभव करेगा । उनके इन शब्दों में यह स्पष्ट निकलता है । "मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा । मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा..... और यह आशंका निराधार नहीं थी ।"[1] इसलिए राज्य के कर्मचारियाँ उसे ढूँढते हुए ग्रामप्रदेश आते वक्त वह राजधानी चले जाने से इनकार करता है और कहता है कि "मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ ।" कालिदास के इस कथन से स्पष्ट होता है कि शासन के हाथों में हो जाने से उसका व्यक्तित्व या उसकी सृजनशीलता का गला घोंट दिया जाएगा ।

सृजनकार की स्वतंत्रता उसकी रचना को अथ से इति तक प्रभावित करती है । उज्जयिनी में जीवन की सारी सुख सुविधायें उसे प्राप्त थी । उज्जयिनी में वारांगनाओं के सहवास, राजकन्या प्रियंगुमंजरी से शादी और काश्मीर के शासक का पद ये सब व्यवस्था द्वारा उन्हें प्राप्त सुविधायें ही थी । उस व्यस्त जीवन में डूबकर कालिदास अपनी रचना क्षेत्र में असफल रहा । वास्तव में इन सुख सुविधाओं के बीच उसका क्या हाल था, उसका संकेत उनके इन शब्दों में हैं । "परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं ने वहाँ रहकर कुछ

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 99 - मोहन राकेश

नहीं लिखा । जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था । "कुमार संभव" की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो । "मेघदूत" के यक्ष की पीडा मेरी पीडा है और विमर्दिता यक्षिणी तुम हो... ..... यद्यपि मैं ने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की । "अभिज्ञान शाकुन्तल" में शकुन्तला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थी । मैं ने जब जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर फिर दोहराया । और जब उससे हटकर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान नहीं हुई ।"[1]

अपनी ज़मीन और यथार्थ जीवन को खोकर शासन के ऊँचे पद पर विराजमान होना, और एक टूटे हुए व्यक्ति के रूप में एक सहारे की तलाश में गाँव वापस लौटना केवल कालिदास की ही नहीं बल्कि हर एक कलाकार के जीवन की त्रासदी है । नाटक में राकेश ने कालिदास के जीवन की इस समस्या को मातुल के माध्यम से खींचने का प्रयास किया है । "पहले जब दो पैरों पर चल लेता था, तो मैं ने कभी भारी से भारी वर्षा की चिन्ता नहीं की । परन्तु अब यह स्थिति है कि बैसाखी आगे रखता हूँ तो पैर पीछे को फिसल जाता हूँ और पैर आगे रखता हूँ तो बैसाखी पीछे को फिसल जाती है । यह जानता कि राज-प्रासाद में रहकर पाँव तोड बैठूँगा तो कभी ग्राम छोडकर वहाँ न जाता । अब पीछे से मेरा घर भी उन लोगों ने ऐसा कर दिया है कि कहीं पैर टिकता ही नहीं । इन चिकने शिला-खण्डों से तो वह मिट्टी

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 102 - मोहन राकेश

ही अच्छी थी जो पैर को पकडती तो थी । मैं तो अब घर के रहते बेघर हो रहा हूँ । न बाहर रहते बनता हूँ न अन्दर ।"[1] यों कलाकार के टूटन और अन्तर्द्वन्द्व की कथा को ही राकेश ने इस नाटक में रूपायित करने की कोशिश की है । इस नाटक का नायक महापुरुष कालिदास होने पर भी नाटक ऐतिहासिक नहीं है । इतिहास से केवल महाकवि कालिदास का नाम और उनकी रचनाओं का नाम तथा तत्कालीन परिवेश को ही नाटककार ने स्वीकार किया । इस सन्दर्भ में राकेश का कथन उल्लेखनीय ही है । "मेरे लिए कालिदास व्यक्ति ही नहीं हमारी सर्जनात्मक शक्तियों का प्रतीक है । नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है । व्यक्ति कालिदास को अन्तर्द्वन्द्व से गुज़रना पडा या नहीं यह बात गौण है । मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पडा है हम भी आज उसमें से गुज़र रहे हैं ।"[2]

सत्ता समाज की स्वतंत्रता की बागडोर पकडती है । वह यही चाहती है कि राज्य में सब काम अपनी अनुमति और आग्रह से हो जाय । स्वतंत्रता के अनुभावी कलाकार को कभी कभी इसलिए सत्ता के विरुद्ध खडे होना आवश्यक बन जाता है । कला के प्रति सत्ता का रुख स्वार्थपूर्ण है । कला को वह अपने राज्य के वैभव प्रदर्शन की चीज़ मात्र मानती है । इन लोगों में कला के असली मूल्य को आंकने की क्षमता नहीं होती और जो

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 88 - मोहन राकेश
2. लहरों के राजहंस की भूमिका - मोहन राकेश

रूख उनमें होता है वह बिलकुल व्यावसायिक है । अभावग्रस्त जीवन की पराधीनतायें हानुश नामक घडी साज को घडी निर्माण से असमर्थ बना रखा था । इसलिए अपनी एकमात्र अभिलाषा घडी निर्माण की पूर्ति के लिए उसे अनेक लोगों के पास हाथ फैलाना पडा । लेकिन हानुश के कलाकार व्यक्तित्व को सभी ने एक दृष्टि से आंका । उस कलाकार में अंकुरित कला को पल्लवित एवं पुष्पित करने के उद्देश्य से किसी ने उसकी मदद न की ।

कुछ लोग और ऐसी कुछ संस्थायें जब कभी कलाकार की आर्थिक मदद करते हैं तो इनका मकसद कला या कलाकार को प्रोत्साहन देना नहीं बल्कि उसी बहाने अपनी स्वार्थपूर्ति करनी है । गिरजेवाले पहले हानुश को वर्जीफा देते हैं ; लेकिन दस साल होने पर भी घडी का निर्माण न होने से वर्जीफा बन्द कर देते है क्योंकि उन्होंने अनुमान किया कि अब हानुश द्वारा घडी की पूर्ति असंभव ही है । अपना धन वे व्यर्थ खर्च करना नहीं चाहते थे । आगे भी वर्जीफा मिलने के लिए जब हानुश लाट पादरी के पास जाता है तो वह उसे शैतान बुलाता है । उनके अनुसार "घडी बनाना इन्सान का काम नहीं, शैतान का काम है । घडी बनाने की कोशिश करना ही खुदा की तौहीन करना है । भगवान ने सूरज बनाया है, चाँद बनाया है, अगर उन्हें घडी बनाना मंजूर होता तो क्या वह घडी नहीं बना सकते थे ? उनके लिए क्या मुश्किल था ? इस वक्त आसमान में घडियाँ ही घडियाँ लगी होते । सूरज और चाँद ही भगवान की दी हुई घडियाँ है । जब भगवान ने घडी नहीं बनायी तो इन्सान का घडी बनाने का मतलब ही क्या है ।"[1] ताज्जुब की

---

1. हानुश - पृ. 42 - भीष्म साहनी

बात यह है कि इन रूढिग्रस्त लोगों की बातें एक नया मोड लेती है जब हानूश घडी के निर्माण में सफल होता है । गिरजाघर में ऐसा एक फैसला हुआ कि हानूश की घडी बडे गिरजे पर लगायी जाएगी ।

सौदागार लोग पाँच साल से हानूश को वजीफा दे रहे हैं, इसलिए वे अपने को घडी का मालिक मानते हैं । उनके अनुसार जिन्होंने घडी के लिए खर्च किया घडी उसकी मिल्कियत है । वे घडी को नगरपालिका में लगाकर बादशाह सलामत का स्वागत करना चाहते हैं । और तद्वारा उसे खुश कर कम से कम आठ आदमी को दरबार में नुमाइन्दगी प्राप्त करना चाहते है । घडी का उद्घाटन करते वक्त वे राजा को नगर के सौदागार - सन-अतकारों की ताकत दिखाना चाहते हैं ; क्योंकि वे जानते हैं कि "बादशाह इनसाफ को नहीं, ताकत को देखता है ।"[1] सौदागार के लिए हानूश की घडी अपनी लक्ष्यप्राप्ति का एक माध्यम है । इसके अलावा उसमें एक व्यावसायिक रुख भी है । एक व्यापारी की राय में अगर घडी नगरपालिका पर लगेगी तो सारे नगर को नहीं, बल्कि सारी रियासत को उससे फायदा मिलेगा । क्योंकि वह नगर का केन्द्र स्थान है, जहाँ शहर का सारा कारोबार होता है । वहाँ घडी लगाने पर दूर-दूर से सैकडों लोग उसे देखने के लिए आया करेंगे और उसके व्यापार को चार चाँद लग जाएगा । तब वहाँ दूकानों की किराये बढ जायेंगे और ज़मीन जायदाद की कीमत भी बढ जाएगी । उसका एक लक्ष्य अपने व्यापार को बढाना है ।

---

1. हानूश - पृ. 40 - भीष्म साहनी

घड़ी के प्रति व्यापारियों का व्यावसायिक रुख एक व्यापारी के शब्दों में खूब उभर आता है - "हमें घड़ी की नुमाइश से नहीं मुनाफे से मतलब है ।"[1] वे हानुश के साथ पाँच-छः दस्तकारों को रखकर और अधिक घड़ियाँ बनवाना चाहते हैं जिससे सारे यूरोप में घड़ियाँ बेच सकता है और घड़ी का व्यापार भी कर सकते हैं । इन कारणों से वे हानुश की घड़ी को अपने हाथ से न फिसलाना चाहते हैं । इसके लिए वे किसी भी प्रकार हानुश को अपने वश में लाना उचित समझते हैं । घड़ीसाजों की एक जमात बनाकर हानुश को उसमें शामिल करने के लिए तैयार होते हैं । यहाँ तक कि हानुश को अपने जाल में फंसाने के लिए "एक दूर की कौड़ी फेंक देने" को सोचते हैं । कुफ्लसाज हानुश, जो अब कुफ्लसाज नहीं घड़ीसाज है और दरबारी होनेवाला है उसकी बेटी के साथ एक व्यापारी के बेटे की शादी करवाना चाहते हैं, क्योंकि इससे हानुश फिर पादरी भाई की नहीं सुनेगा, वह अपने दामाद की ज़रूर सुनेगा । घड़ी के निर्माण के लिए हानुश हाथ फैलाकर जिन लोगों के पीछे भटकता फिरा उनके लिए हानुश के दरबारी बनने की संभावना का अन्दाज़ लगते ही पर आदरणीय व्यक्ति बन जाता है । अपनी मनोतुष्टि के लिए जिस घड़ी का निर्माण हानुश ने किया वह दूसरों के हाथ में पैसा कमाने का माध्यम बन जाता है ।

शक्तिशाली सत्ता अपने स्वार्थ की अभिलाषी है । वह समाज की किसी भी शक्ति को उभारने नहीं देती चाहे वह कलाकार हो या

---

1. हानुश - पृ. 46 - भीष्म साहनी

और कोई । अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए सृजनात्मक व्यक्तित्व को कुचल देने के पीछे सत्ता की यही स्वार्थ नीति है ।

महाराजा का स्वागत करने के लिए जाते वक्त हानूश का दोस्त ऐमिल उसे कई प्रकार के उपदेश देता है, क्योंकि वह गरीब कलाकार यह नहीं जानता कि कैसे राजा का सम्मान करें और उससे बातचीत करे । ऐमिल कहता है - "तुम महाराज की तारीफ करना, सभी राजा लोग तारीफ के भूखे होते हैं ।"[1] यदि घड़ी बनाने का कारण पूछे तो इस प्रकार कहना "हुजूर की खुशी के लिए हुजूर के राज्य की शान बढ़ाने के लिए, राजधानी की रौनक बढ़ाने के लिए ।"[2] यही नहीं वह फिर कहता है कि नगरपालिका और गिरजेवालों के बीच शत्रुता है, इसलिए तुम दोनों के हक में कुछ मत कहो ।

सब लोग जानते हैं कि राजा गिरजेवालों और नगरपालिका को अपने वश में रखना चाहता है । राजा की इस मनोवृत्ति का पता एक व्यापारी के कथन से स्पष्ट है "राजा प्रजा की भलाई नहीं, अपनी भलाई पहले देखता है । महाराजा यही चाहते हैं कि गिरजे के अधिकारी भी उनके सामने हाथ बाँधे खड़े रहें और हम सौदागार सब- अलकार भी ।"[3] ये दोनों

---

1. हानूश - पृ. 63 - भीष्म साहनी
2. हानूश - पृ. 63 - भीष्म साहनी
3. हानूश - पृ. 40 - भीष्म साहनी

समाज की दो शक्तियाँ होने के कारण राजा दोनों को नाराज़ करना नहीं चाहता है । इसलिए वह कभी गिरजेवालों को जूता दिखाता है तो कभी नगरपालिका को । इसके फलस्वरूप ही हानूश को वह अजीब ढंग से पुरस्कृत करता है ।

घड़ी को देखते ही उसके बजने के लिए राजा इन्तज़ार करता रहता है, लेकिन न बजते तो वह पूछता है अपने वक्त पर बजेगी, हमारे वक्त पर नहीं बजेगी ।"[1] वह चाहता है कि घड़ी उसके इच्छानुसार बजे । हानूश की घड़ी से राजा खुश होता है लेकिन सत्रह साल से उससे मदद माँगे बिना हानूश ने इसे बनाया है, यह सुनकर उसके मन में आशंका पैदा होती है कि वह छिपकर घड़ी बना रहा था । जब उसे ऐसा पता चलता है कि अब और एक घड़ी का निर्माण आसान है तो वह निराश हो जाता है । उसमें आशंका इस बात की थी अगर अनेक घड़ियाँ बनायी जाये तो इस घड़ी की क्या हो जाएगी ? "अगर शहर-शहर में घड़ियाँ लगेंगी तो इस घड़ी की अहमियत ही क्या रह जाएगी, नदी के पार का तुला राज्य हमारा दुश्मन है । हमारी घड़ी उस राज्य में भी लग सकती है क्यों ? और भी जगह-जगह और मुल्कों में और शहरों में लग सकती है ।"[2]

सौदागार दरबार में नुमाइन्दगी माँगते हैं तो राजा क्रुद्ध

---

1. हानूश - पृ. 71 - भीष्म साहनी
2. हानूश - पृ. 77 - भीष्म साहनी

हो उठता है । वह सोचता है कि ये दस्तकार सब उसकी इच्छा के विरुद्ध खडे हो रहे हैं तो उसके मन में नगरपालिका में घडी लगाने के बारे में भी संशय उत्पन्न होता है । इस कारण से वह सौदागारों से पूछता है कि किसकी इजाजत से वे नगरपालिका पर घडी को लगा है ।

राजा हानुश को दरबारी घोषित करता है और उसे सरकारी काम भी देता है । उसे एक हज़ार सोने के मोहरे देने का भी निश्चय करता है और सौदागारों से एक आदमी को दरबार में नुमाइन्दगी भी देता है । लेकिन घडियाँ बनाकर दिसावर बेचने का व्यापारी लोगों का सुझाव राजा को अच्छा नहीं लगता है । उसकी स्वार्थता जाग उठती है । उसके अनुसार "ऐसी नायब घडी तो मुल्क में एक ही रह सकती है ।"[1] उसकी आशंका यह है कि आज तो दूर दूर से लोग घडी देखने आते रहते है अब शहर शहर में लग जाए तो इस घडी को कोई भी नहीं देखेगा । इस कारण एक दूसरी घडी का निर्माण न होने के लिए वह हानुश की आँखें निकलवाने की आज्ञा देता है ।

लेकिन हानुश की आँखें निकलवाने के लिए जो हेतु राजा ने ढूँढा वह एक बहाना था । राजा ने गिरजेवालों को तृप्त करने के लिए ऐसा किया था । अविनाश चन्द्र का यह कथन राजा की चाल को व्यक्त

---

1. हानुश - पृ. 79 - भीष्म साहनी

करनेवाला है "दर असल घडी बन जाने पर नगरपालिकाओं ने बादशाह से बिना पूछे ही उसे नगरपालिका की मीनार पर लगा दिया था, जिससे गिरजेवाले बहुत नाराज़ थे । बादशाह यद्यपि नगरपालिकाओं को भी नाराज़ नहीं कर सकते थे, फिर भी उनकी नाराज़गी से कहीं अधिक चिन्ता उन्हें गिरजेवालों के नाराज़ होने की थी । ऐसी हालत में हानूश को राजदरबारी का दर्जा देकर जहाँ नगरपालिकावालों या दस्तकारों को खुश करने की मंशा थी, वहीं उसकी आँखें निकलवाने में गिरजेवालों को प्रसन्न करने का उद्देश्य निहित था ।"[1] राजा ने इस प्रकार सिर उठाते व्यापारी वर्ग को भी कुचल दिया और गिरजेवालों को भी संतुष्ट बनाया । उस कलाकार को अजीब ढंग से पुरस्कृत करके राजा ने अपने अधिकार को समाज में एक बार फिर दृढ़ बनाया ।

इतिहास को अल्पमात्रा में अपनाकर चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में स्थित एक पुरानी मीनारी घडी से संबंधित किंवदन्तियों को आधार बनाकर भीष्म साहनी ने "हानूश" नाटक के कथ्य का रूपायन किया है । इस ऐतिहासिक घटना के भीतर छिपे हुए सत्य को निरावृत करने की साहनी की कोशिश है "हानूश" नाटक । स्वयं नाटककार ने नाटक की भूमिका में लिखा है "यह नाटक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, नही उसका अभिप्राय घडियों के आविष्कार की कहानी कहना है । कथानक के दो एक तथ्यों को छोडकर लगभग सभी कुछ ही काल्पनिक है । नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र है ।"[2]

---

1. आलोचना - 66 (त्रैमासिक) पृ. 95 - सं. नामवरसिंह
2. हानूश - भूमिका - भीष्म साहनी

सत्ता के हाथों एक समर्पित कलाकार की इस तरह की परिणति इसलिए थी कि शासक समाज के शक्तिशाली, सिर उठानेवाले वर्गों को अर्थात् व्यापारी एवं गिरजेवालों को एक चोट देना चाहता था तथा अपने अधिकार को दृढ़ बनाना चाहता था । मध्यकाल की यह विदेशी परिस्थिति आज की हमारी परिस्थितियों से मेल खाती है । इसलिए यह नाटक आधुनिकता को अपनी ऐतिहासिकता के भीतर से उभारता है ।

जगदीशचन्द्र माथुर ने "कोणार्क" नाटक में कलाकार व्यक्तित्व के दो विभिन्न पक्षों को इतिहास के ज़रिए आंकने का प्रयास किया है । साथ ही साथ राजाशाही शोषण से पीडित कलाकार की करुण दशा को भी इसमें जोड दिया है ।

समाज में अत्याचार के विरुद्ध चुप्पी साधनेवाले और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले दोनों प्रकार के सृजनधर्मी कलाकार मौजूद है । इसमें पहले वर्ग के कलाकार शासक के इच्छानुसार उनके शान बढाने की कोशिश में अपना व्यक्तित्व खोता रहता है । समाज के प्रति वह अपना दायित्व भूल बैठता है । अपनी सृजनधर्मिता को वह समाजोन्मुख बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि सृष्टि ही उसका अपना धर्म है । कला को वह मनोरंजन का मात्र साधन समझता है । ऐसे एक कलाकार की ओर माथुर ने कोणार्क नाटक में विशु के चरित्र द्वारा संकेत किया है ।

कला के प्रति अतीव श्रद्धा एवं आस्था रखनेवाले सृजनकार अपने कलाप्रेम के सम्मोहन में सांसारिक जीवन तक भूल जाता है । वे कलाकार का कर्तव्य कला के प्रति आत्मसमर्पण ही मानता है । इसी मान्यता के बलबूते पर जीनेवाले कलाकार का व्यक्तित्व यथार्थ जीवन या चेतन मन तक नहीं उभर पाता । सृजन प्रक्रिया में लीन रहकर वह अपने जीवन यथार्थ से कोसों दूर भटक जाता है । क्योंकि सदैव सृजन के क्षणों में तल्लीन कलाकार का अवचेतन मन सक्रिय हो उठता है और चेतन अकर्मण्य भी । ऐसी अवस्था में उसका पौरुष नाग के समान कुण्डली मारकर सोता रहता है । यों कुण्डली मारकर सोनेवाला सर्प भी कुछ विशेष परिस्थिति से प्रभावित होकर अवश्य फुत्कारेगा । इसी को विशु नामक शिल्पी के द्वारा माथुर ने प्रस्तुत किया है । स्वयं वे कहते हैं "मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौंदर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है "कोणार्क" के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो । चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरुष को मैं ने वाणी देने की धृष्टता की है ।"[1] नाटक में विशु अपनी कला को साध्य एवं साधन मानता है । उसके जीवन में जो व्यक्तिगत पीडा एवं आत्मसंघर्ष है उसे प्रेरणा के रूप में स्वीकारते हुए वह पत्थरों में विलासमूर्तियों का निर्माण करता रहा ।

"कोणार्क" सूर्यमन्दिर के निर्माण केलिए भी महाशिल्पी विशु 1200 सहशिल्पियों के साथ वर्षों से काम कर रहा है । लेकिन अपनी

---

1. कोणार्क (परिचय) - जगदीशचन्द्र माथुर

सहवर्तियों के साथ क्या गुज़र रहा है उन अत्याचारों से उसका कोई नाता नहीं । वह कला को कला के लिए मात्र समझता है । राजनीतिक चाल और षड्यंत्र में हाथ डालना उसके अनुसार शिल्पियों के लिए अनुचित है । आतंकों की खबर लानेवाले नाट्याचार्य सौमित्र एवं राजीव से उसका यह वक्तव्य यथार्थ से मुँह मोडनेवाली उसकी प्रवृत्ति का परिचायक है । "शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिए, राजीव ! मेरी कला में जीवन का प्रतिबिंब और उसके विरुद्ध विद्रोह दोनों सन्निहित हैं ।"[1] वह यही विश्वास करता है चाहे किसी की शक्ति बढे या किसी की घटे उसका दायित्व कोणार्क को पूरा करने में है ।

धर्मपद एक ऐसे कलाकार है जो कला को मात्र कला केलिए नहीं जीवन के लिए मानता है । धर्मपद एकान्त कला साधना एवं व्यक्तिवादी सौंदर्यचेतना का विरोध करता है और एक कलाकार का लक्ष्य समाजोन्मुखता समझता है । उसके इन शब्दों में यह स्पष्ट निकलता ही है "मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ रही हो, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही बनाते रहे ।"[2] विशु की कला में धर्मपद इसका अभाव पाता है कि विशु जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच जो पुरुषार्थ है उसको भूल गया है । एक महाशिल्पी के अधिकार के बल पर अत्याचारी अमात्य चालुक्य से विशु विद्रोह करना नहीं चाहता । अपने सहकर्मियों के जीवन की पीडाओं की जानकारी

---

1. कोणार्क - पृ. 29 - जगदीशचन्द्र माथुर
2. कोणार्क - पृ. 35 - जगदीशचन्द्र माथुर

उसे धर्मपद से ही मिलती है । महामात्य चालुक्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की ज़मीन छीन ली है, अनेकों के स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पडता है और सारे उत्कल अकाल से जर्जर हो रहा है । धर्मपद में जो कला-रुचि है उसके कारण वह मन्दिर के कलश को ठीक स्थापित करने का वादा करता है और साथ-साथ एक दिन के लिए महाशिल्पी का पद प्राप्त कर शोषण के विरुद्ध अपने अधिकार का प्रयोग भी करना चाहता है ।

धर्मपद विद्रोही व्यक्तित्व का स्वामी है उसके प्रगतिशील दृष्टिकोण नाटक के आदि से अन्त तक उभर आता है । कला के प्रति उसका रुख यथार्थपरक है जिसके मूल में जीवन ही है । उसकी राय में केवल श्रृंगार मूर्तियों का निर्माण ही कलाकार का कर्तव्य नहीं बाहरी दुनिया से भी उसका संबंध ज़रूर होना चाहिए । प्रगतिशील कलाकार धर्मपद, शोषण और अत्याचार के विरुद्ध खडे होना और शोषितों को एकत्रित करके संचित शक्ति द्वारा शोषक वर्ग से टकराना चाहता है । निर्भीक होकर वह शासक नरसिंह देव को राजराज चालुक्य द्वारा शिल्पियों पर किये गये अत्याचार सुनाता है । उसके ओजमयी एवं तीक्ष्ण शब्दों में यही स्पष्ट होता है "झुरमुट की ओट में चहकनेवाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान नहीं होता । आपको क्या मालूम कि इस जय-जयकार के पीछे हा-हाकार चुपचाप सिसक रहा था ।"[1] वह अपने को केवल कला साधना का उपकरण नहीं मानता इसलिए आक्रमणोन्मुख राजराज चालुक्य के दूत से आवेश के साथ भडक उठता है "बहुत हुआ..... बहुत हुआ दूत ! क्या

---

1. कोणार्क - पृ. 51 - जगदीशचन्द्र माथुर

हम लोग भेड-बकरियाँ हैं, जो चाहे जिसके हवाले कर दी जायँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है, जिस सिंहासन को तुम आज डावाँडोल कर रहे हो, वह हमारे ही तो कन्धों पर टिका है । क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैकडों घर उजड चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य निर्माता शिल्पियों को ठोकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजावत्सल नरेश श्री नरसिंह देव ।'[1] धर्मपद के वाक्यों में निर्भीक सामाजिकता एवं शोषित वर्गों के कल्याण की कामना भी है, वह कला की मार्क्सवादी व्याख्या का पक्षधर सिद्ध होता है । नाटक में पलायनवादी व्यक्तित्व के रूप में विशु को और प्रगतिशील व्यक्तित्व के रूप में धर्मपद को दर्शाया है ।

कोणार्क नाटक में कलाकार और शासन के बीच चिरन्तन संघर्ष को भी वाणी दी है । महामात्य राजराज चालुक्य शोषक शासक का प्रतीक है और शिल्पियाँ शोषित कलाकार का । राजा नरसिंहदेव बंगाल में यवनों से युद्ध करते वक्त महामात्य उत्कल में अपना मनमानी करता है । दण्डपाशिक का प्रधान बनकर उसने सारी शक्ति अपने में केन्द्रित रख दी । वह गाँवों से काम करने आये मज़दूरों की ज़मीन को नरसिंहदेव की आज्ञा के बिना ही सैनिकों को बाँट देता है । शिल्पियों को दिये जानेवाली मुद्राओं का पुरस्कार बन्द कर दिया जाता है । लंबी साधना के बाद भी मन्दिर के ऊपर कलश न स्थापित कर सकने की विशु की दुविधात्मक स्थिति में चालुक्य पूरे शिल्पियों को यह आज्ञा देता है कि आगामी एक सप्ताह के

---

1. कोणार्क - पृ. 57 - जगदीशचन्द्र माथुर

अन्दर कलश न स्थापित हो जाते तो सभी शिल्पियों के हाथ काट लिए जायेंगे । शिल्पियों के ऊपर वह इस प्रकार का आरोप भी लगाता है "राजनगरी में मैं ने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य का धन नष्ट हो रहा है । न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मज़दूर । दस दिन हो गये, कलश तक स्थापित न हो सका ।"[1] चालुक्य उस उद्दण्ड शासक का प्रतीक है जो कला को अपनी शान का चीज़ समझता है और कलाकार को अपनी शर्तों का पालनकर्ता ।

माथुर ने सहनशील विशु और विद्रोही धर्मपद को परिचित कराते हुए इतिहास के माध्यम से समकालीनता का बोध कराया है । धर्मवीर भारती के निम्नलिखित कथन में यही व्यक्त होता है । "ध्यान से देखें तो अचरज होता है कि उसी विषय वस्तु पर इस अपूर्ण स्थिति की प्रतीकात्मकता की छाप कितनी गहरी है । मन्दिर का निर्माण लगभग पूरा हो गया है । केवल शिखर की प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही हैं । समस्या है पुराने शिल्पी और उसके अप्रतिष्ठित नये उत्तराधिकारी की । यह अत्युक्ति न होगी यदि हम कहें कि यहाँ से आधुनिक नाट्य लेखन में समकालीनता का बोध अज्ञात रूप से प्रस्फुटित होने लगता है ।"[2]

कलाकार की राजाश्रयता, व्यवस्था द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर अंकुश यही सुरेन्द्र वर्मा के नाटक "आठवाँ सर्ग" का मूल विषय है

---

1. कोणार्क - पृ. 38 - जगदीशचन्द्र माथुर
2. नटरंग (वर्ष -1) अंक 1 - पृ. 53

धार्मिक रूढिग्रस्तता और व्यवस्था द्वारा दबाव दोनों आठवाँ सर्ग के नायक कालिदास को अपनी रचना को अधूरे छोडने के लिए बाध्य कर देते हैं ।

रचनाकार की दृष्टि और सामान्य जनता की दृष्टि में अन्तर है । लेखक समाज को नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों पक्षों को समानता से अपनी कृतियों में स्थान देता है । समाज के सभी वर्गों को रिझाना रचनाधर्मिता का लक्ष्य नहीं, एक ईमानदार लेखक की दृष्टि घनात्मक और ऋणात्मक पक्षों पर पडे बिना नहीं रह सकती । हर युग में इस समस्या को लेकर रचना पर वाद-विवाद ज़ारी रहता है । अपनी सृष्टि को तोडे मरोडे बिना रहने देना आज भी रचनाकार के लिए संघर्ष का कारण बनता है । आठवाँ सर्ग के नायक कालिदास को अपनी रचना के नाम पर राज्य द्वारा सम्मान समारोह के अवसर पर अवमान सहना पडता है । उसके द्वारा लिखे गये कुमार संभव के आठवें सर्ग को लेकर श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न धर्माध्यक्ष द्वारा उठाया गया था । और जब सम्राट ने देखा कि राज्य की अन्य कुछ शक्तिशाली वरेण्य व्यक्तियों द्वारा भी आरोप का समर्थन किया जा रहा है तो वह सम्मान समारोह को स्थगित किये जाने की घोषणा करता है ।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हर रचनाकार के लिए अपनी रचना में यथार्थ की पूर्ति के लिए ज़रूरी है । कुमार संभव के आठवें सर्ग में कालिदास ने शिव-पार्वती की विलास क्रीडाओं का वर्णन किया जो उनके लिए मानवीय यथार्थ का चित्रण ही था । कालिदास ने शिव और

पार्वती के द्वारा पति-पत्नी के प्रेम को ही वाणी दी थी लेकिन धर्माध्यक्ष की दृष्टि में वह आराध्य देवता की अवहेलना थी और इसलिए उसने इस सर्ग का प्रचार-प्रसार और ऐसे एक लेखक का राजकीय सम्मान पाप माना । उसकी धार्मिक संकुचितता एवं कट्टरता इन शब्दों में लक्षित होती है । "यह सर्ग अत्यन्त अश्लील है । जगतपिता महादेव और जगजननी पार्वती के भोग विलास का ऐसा उद्दाम, ऐसा स्वच्छन्द, ऐसा नग्नचित्रण । ..... इसका रचयिता पापी है । इसके श्रोता पापी हैं । ..... ऐसे अधर्मी और अत्याचारी कवि के सम्मान समारोह में जो भाग ले वह पापी है । जो उसका निमित्त रहे, वह पापी है । जो उसमें सहायता दें, वह पापी है..... कुमार संभव पर प्रतिबन्ध लगाए जाए क्योंकि कच्चे मस्तिष्कों पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा।"[1] तथाकथित शख्सों के आरोप और उसके बलबूते पर जाँच के बिना राजा द्वारा प्रतिबन्ध लगाना, हर युग के रचनाकार की समस्याओं के प्रति संकेत है । कलाकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर सत्ता के हस्तक्षेप का यह प्रश्न भारत में आपात्काल के संदर्भ में अधिक तीव्र हो गया था ।

कभी कभी जान बूझकर समाज में रचनाकारों की अवहेलना होती रहती है । व्यक्तिगत स्वार्थ ही ऐसा करने के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देती है । कुछ रचनाकार ऐसे होते हैं जो किसी एक लेखक की धाक सह नहीं सकते । यह भी एक रचनाकार व्यक्तित्व को कुचलने के पीछे काम करता है । कालिदास के विरुद्ध रचे गये षड्यंत्र के मूल में उसके मित्र दिङ्नाग की कूटनीति भी काम कर रही थी । देश भर में फैली गयी कालिदास की प्रतिष्ठा और

---

1. आठवाँ सर्ग - पृ. 38 - सुरेन्द्र वर्मा

ख्याति से ईर्ष्या करनेवाले दिङ्नाग जैसे लेखक ही किसी लब्ध प्रतिष्ठ रचनाकार की व्यक्तित्व को कुचलने के पीछे काम करता है । सौमित्र के इस कथन में यह स्पष्ट उभरता है । "शायद आप जानती हों, राजधानी में रचनाकारों का एक वर्ग ऐसा भी है, जिसे कालिदास की दिन दूनी रात चौगुनी बढती प्रतिष्ठा बहुत कष्ट दे रही है । यह उनकी कूटनीतिक चाल थी और इसमें प्रमुख हाथ दिङ्नाग का रहा है ।"[1] कालिदास के विरुद्ध दिङ्नाग धर्माध्यक्ष का कान भरता है तो पहले से ही कालिदास से प्रतिशोध लेने की ताक में बैठे हुए धर्माध्यक्ष अपने हाथ में आये अवसर का खूब लाभ उठाता है ।

शासन हर युग में कलाकार को प्रोत्साहन देता रहा । लेकिन यह तो सिर्फ कलाप्रेमी होने के नाते नहीं पर इसलिए कि वह समाज के सभी क्षेत्रों में अपनी पकड रखना चाहता है । वह समाज की सारी क्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहता है । किसी एक वर्ग को असन्तुष्ट रखना उसका ध्येय नहीं । इसलिए कभी अपने राज्याश्रय में रहनेवाले कलाकार को भी उसे छोडना एवं तिरस्कृत करना पडता है और निरपराध रचनात्मक व्यक्तित्व को उसकी चाल का निमित्त बनना पडता है । नाटक में सम्राट चन्द्रगुप्त कवि कालिदास से कुमारसंभव के आठवें सर्ग को हटाने का सुझाव रखता हैं, जिसके लिए किसी भी प्रतिबद्ध लेखक तैयार नहीं होता । सम्राट यह जानता भी है कि राजाश्रयता कलाकार को अपेक्षित ही हैं उसके इस वक्तव्य में इसका संकेत है "मत भूलो कि रचनात्मक प्रतिभा अपने आप में अधूरी है, क्योंकि रचना

---

1. आठवाँ सर्ग - पृ. 40 - सुरेन्द्र वर्मा

को प्रकाश में लाने के लिए उसके प्रचार और प्रसार के लिए उसकी स्वीकृति और मान्यता के लिए कुछ माध्यमों की आवश्यकता होती है ।[1] राजा के मन में यह भ्रांति घर कर बैठी है कि राजाश्रय के बिना कलाकार की कला नहीं पनपेगी, वह सूख जाएगी ।

सम्राट के सामने प्रश्न तो किसी रचनाकार की अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का हनन नहीं बल्कि अपने सत्ता को कायम रखने का है । आठवाँ सर्ग में वर्णित शिव-पार्वती की रतिक्रीडाओं के पढने से समूचे देश में जनता के बीच उत्पन्न होनेवाली अशांति की चिन्ता से बढकर राजा को बेचैन कर देनेवाली चिन्ता यह है कि धार्मिक पुरोधाओं और ताकतवार इकाइयों को किसी न किसी प्रकार तुष्ट करें । उसकी आशंका इन बातों पर है कि धर्मगुरु ने कालिदास को दण्ड नहीं दिये जाने पर प्राण त्यागने का वादा किया है और यदि इस प्रकार हो जाय तो देश में भूचाल हो जाएगा । व्यवस्था धार्मिक पुरोधाओं की दुश्मनी मोल लेना कभी नहीं चाहती क्योंकि ताकतवार धर्म शासन की एक प्रमुख तबका है और इनसे समझौता न करके टकराना शासकों के लिए काफी खतरनाक है । इन बातों को ध्यान देते हुए चन्द्रगुप्त ने कुमार संभव के आठवाँ सर्ग की श्लीलता - अश्लीलता पर विचार करने के लिए ऐसे एक न्याय समिति का गठन किया जिसमें जो शदर शामिल थे वे राजा की नीति से हाँ में हाँ मिलानेवाले हैं । एक साहित्यक रचना के गुण और दोष के विषय में निर्णय लेनेवाली जाँच समिति में साहित्य से तनिक भी संबंध नहीं

---

1. आठवाँ सर्ग - पृ. 56 - सुरेन्द्र वर्मा

रखनेवाले व्यक्तियों की उपस्थिति जाँच आयोग का निर्णय सत्ता का निर्णय होने का एक तंत्र मात्र है । नगर के संपन्न व्यवसायी श्री दिवाकरदत्त, नगर के विख्यात आयुर्वेदाचार्य श्री पुण्डरीक, न्यायाधीश, धर्माध्यक्ष तथा कालिदास के मित्र सौमित्र को समिति में रखा गया । साहित्येतर व्यक्तियों द्वारा किसी रचना का मूल्य आंकना और उनके द्वारा निर्णीत शर्तों के अनुसार रचना में सुधार लाने का आदेश देना समसामयिक संदर्भ का भी एक ज्वलंत सत्य है । लेखक ने इस प्रकार की समितियों के खोखलेपन और दिखावा की ओर संकेत किया है ।

चन्द्रगुप्त किसी भी कीमत पर जनता के मन में अपने प्रति असन्तोष पैदा करना नहीं चाहता । उसे मालूम है कि देश की स्थिति संकट में है । बंगेश्वर ने गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की है । सेनापति के यहाँ अज्ञात व्यक्ति के आने जाने का समाचार भी है । कालिदास और राजदुहिता प्रियंगुमंजरी के ब्याह से ब्राह्मण-क्षत्रियों के बीच असन्तोष है जिसका प्रभाव फौज में भी है । इन कारणों से किसी भी मूल्य पर राज्य सत्ता और शासन को कायम रखना ही सम्राट का पहला और प्रमुख लक्ष्य है । इसलिए कालिदास के काव्य में अश्लीलता का कोई प्रश्न सम्राट को लक्षित होने पर भी उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए और रचनाकार से उस सर्ग को हटाकर न्यायसमिति के हितानुसार उसका चयन करने का सुझाव देने के लिए वह तैयार होता है ।

अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर लगायी गयी रोक से उपजी हुई पीडा से कालिदास अपनी कृति को अधूरा छोडता है । लेखकीय व्यक्तित्व पर इस प्रकार का प्रतिबन्ध सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक को ऐतिहासिकता के ऊपर समसामयिकता का पुट अधिक प्रदान करता है । स्वयं लेखक ने ही कहा है कि "कुमार संभव के ब्याज से लिया गया अश्लीलता का पक्ष तो समकालीन कला के लिए प्रासंगिक है ही, पर अगर आपात्कालीन भारत में लेखकीय अभिव्यक्ति बनाम शासन के रेखांकन की दुहरी सार्थकता की प्रतीति न होती, तो ऊपर उल्लिखित आत्मान्वेषण के मोह के बावजूद अच्छे-खासे चल रहे उपन्यास {अंधेरे से परे} को छोडकर यह प्रस्तुति शुरू न की जाती ।"[1]

युद्ध की राजनीति :-

आधुनिक युग की सबसे बडी विभीषिका युद्ध है । आज विश्व का कोई व्यक्ति युद्ध के भय एवं आतंक से मुक्त नहीं है । भूत और वर्तमान के युद्धों का भय मानव के मन में हमेशा अपने भविष्य के प्रति अनास्था उत्पन्न करता है । अब तक जितने युद्ध लडे गये हैं उनकी विभीषिकाओं ने मानव के मन में युद्ध के प्रति घृणा पैदा की है । भविष्य में होनेवाले युद्ध के प्रति भी उसका मन शंकाग्रस्त दिखाई पडता है । युद्ध से होनेवाली यंत्रणाओं में कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से मुक्त नहीं, यह उसकी मानसिकता को बुरी तरह बिगाड देती है । वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ करोडों रुपये खर्च करके नये नये विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों एवं युद्धोपयोगी सामग्रियों का निर्माण हो रहा है । एक देश में होनेवाले युद्ध की विभीषिकाओं का परिणाम लाखों मील

---

1. आठवाँ सर्ग - भूमिका - सुरेन्द्र वर्मा

दूर रहनेवाले लोगों को भी भोगना पडता है । युद्ध के साथ साथ निरस्त्रीकरण एवं शान्ति की चर्चा भी ज़ोर पकड रही है । लेकिन इन चर्चाओं का प्रभाव उन लोगों पर नहीं पडता जिनके भेजे में अपने स्वार्थ सिद्धि केलिए युद्ध के बीज पनपते हैं । इसलिए युद्ध को रोकने की कोशिश असफल ही रह जाती है । युद्ध अब भी ज़ारी है ।

युद्ध के इतिहास को परखें तो मालूम होगा कि यह मानव इतिहास जैसा पुराना है । इसलिए यह कथन सच निकलता है कि "विश्व इतिहास कई अर्थों में युद्ध का इतिहास है ।"[1] संघर्ष आदिम मानव के लिए एक अस्तित्वगत आवश्यकता ही था । आरंभ से ही उन्हें कभी प्रकृति से कभी प्राकृतिक प्रकोप और वन्य पशु, बर्बर कबीलों से जूझना पडा इसलिए टकराहट अनिवार्य ही थी । इन संघर्षों ने धीरे-धीरे बदलते परिवेश एवं मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार नये नये युद्ध तंत्रों, युद्धोपयोगी सामग्रियों को जन्म दिया तथा आधुनिक सर्वनाशी युद्ध के रूप में परिवर्तित हुए । अधिकार लोभ, धन लोभ, और शक्ति परीक्षा आदि के रूप में मानव मानव के बीच आपस में गला-काट व्यवहार प्राचीन काल से चलती आ रही । "प्राचीन भारतीय समाज, चीनी समाज, मिनोई समाज, सुमेरी समाज, बेबिलन और मिस्री समाज तथा इनकी सभ्यताओं का अध्ययन करने पर सभ्यताओं के उत्थान-पतन में युद्ध की भूमिका स्पष्ट होती है ।"[2]

---

1. इंडियन एक्सप्रेस (दैनिक) - जून 6, 1993 - रवि व्यास
2. समकालीन सृजन (त्रैमासिक) पृ. 64 • सं. ओंभुनाथ (श्रीनिवास शर्मा)

युद्ध भिन्न-भिन्न मानव समूहों के मरने और मारने की प्रक्रिया है । इसमें मानव की मानवीयता या कोमल भावना नहीं रहती बल्कि निर्दयता एवं क्रूरता का बर्हिस्फुरण होता है । इस संघर्ष में मानव अपने को भी न्योछावर करके शत्रु नाश करने का लक्ष्य करता है । इसलिए कह सकते हैं कि युद्ध मनुष्य के समूहों के बीच का अस्तित्व संघर्ष का वह रूप है जिसमें मानवीय चेतना और उपकरणों को काम में लाया जाता है । प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं के बीच जो युद्ध चला, वह निहित स्वार्थता की ही कहानी है । इसकी ओर संवेदनशील लेखकों की पैनी दृष्टि टिकी है और इसके आधार पर श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों की रचना भी हुई है । ग्रीक महाकाव्यों जैसे इलियड और ओडीसी में युद्ध वर्णन अधिक मात्रा में है । हमारे देशीय महाकाव्यों जैसे महाभारत और रामायण भी युद्ध की कहानियाँ है । लेकिन इनमें चित्रित युद्धों को, सत्य, असत्य, न्याय और अन्याय तथा धर्म - अधर्म का संघर्ष ही कहा गया है । इसलिए युद्ध को एक विनाशकारी विध्वंस के रूप में नहीं चित्रित किया गया । लेकिन युद्ध जो भी हो पुराने ज़माने का या आधुनिक समाज का उसमें अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन काल में जो युद्ध चलते थे उससे जनसाधारण अलग रहे । कभी कभी आर्थिक संकट उन्हें सताने पर भी मानसिक रूप से वे उससे मुक्त रहे । लेकिन आज की स्थिति यह नहीं, आज युद्धोपरान्त भीषण स्थितियाँ आम जनता को झकझोरती है । शंभुनाथ का यह कथन सार्थक लगता है कि "सभ्यता के विकास की चरम ऊँचाई पर युद्ध का हथियारों की होड अब वैसा अलग मामला नहीं है । उसका संबंध किसानों की बाहर निकली पसलियों, बच्चों की धंसी आँखों, कारखाने की चिमनी से निकलते धुआँ ही नहीं, नाश्ते में मिले बिस्कुट तक से है ।"[1]

---

1. समकालीन सृजन (त्रैमासिक) पृ.1 - सं. शंभुनाथ

आधुनिक युग के युद्ध की रीति और गति दोनों एकदम बदली हुई है । केवल नरसंहार से बढकर वह आज अपनी क्षमता दिखलाने की एक योजना बन गयी है । युद्ध को ऐसा एक रूप प्रदान करने का श्रेय आधुनिक युग की राजनीति को है । चाहे युद्ध भिन्न भिन्न देशों के बीच हो या गृहयुद्ध हो, दोनों के पीछे राजनीतिक स्वार्थों का दखल अवश्य रहता है । साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद आदि राजनैतिक स्वार्थों ने आधुनिक युग को भीषण युद्धों से परिचित कराया । आज विश्व में ऐसी महाशक्तियाँ हैं जिनके इशारे पर अन्य देशों का भविष्य बनता है और बिगडता भी । ये लोग दूसरे देशों में संघर्ष पैदा करते हैं और वहाँ अपना मार्ग सुगम बना देते हैं । आज की राजनीति धर्म, भाषा, और क्षेत्रीयता के सहारे संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करती है ।

बीसवीं शताब्दी में संसार ने दो विश्वयुद्धों का सामना किया । 1914-18 के साम्राज्यवादी युद्ध से इसका पहला चरण शुरू हो गया । यह चार वर्ष से अधिक चला और एक करोड व्यक्ति इसमें मारे गये और दो करोडों से अधिक घायल निकले । मानव जाति के लिए प्रथम महायुद्ध आकस्मिक एवं अपरिचित क्षति था । युद्धोपरान्त भीषण स्थितियों ने विश्व जनता को घोर निराशा प्रदान की । महामारी, मौत, गरीबी, भुखमरी तथा उद्योग, खेती और संपत्ति का नुक्सान केवल किसी एक प्रदेश में मात्र नहीं रहा लेकिन विश्व भर में उसका प्रभाव कायम रहा । 1939 में दूसरे विश्वयुद्ध का आरंभ हुआ । यह मानवजाति के इतिहास का सबसे बडा विध्वंस था । इस युद्ध में

मारे गये लोगों की संख्या पाँच करोडों से अधिक है और साढे तीन करोड घायल एवं विकलांग हुए । दुनिया के इकसठ देशों ने इसमें भाग लिया । और विश्व आबादी का 80 प्रतिशत इससे प्रभावित हुए । अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद ने ही इस युद्ध की नींव डाली थी । इस युद्ध में अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागसाकी जैसे महानगरों में एटम बम वर्षाया । अटम बम के विनाश मनुष्य जाति को भीषण एवं दारूण था । दूसरे विश्वयुद्ध के आतंक से संसार को गहरी आघात सहनी पडी । फिर भी उसके बाद भी युद्ध विश्व में हो रहे हैं ।

भारत को अभी तक ऐसे भीषण युद्धों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होने पर भी दोनों विश्वयुद्धों ने वैश्विक स्तर पर भी जो विनाशकारी प्रभाव छोडा था उसका असर भारत पर भी ज़रूर पडा है । भारत का विभाजन और आज़ादी के बाद का भारत-चीन तथा भारत-पाकिस्तान युद्ध ने भारतवासियों को भी इसकी भीषणता एवं भयानकता से परिचित करा दी । गृह-युद्ध और पडोसी देशों से युद्ध का आतंक आज हर देश के समान भारत की जनता का भी संकट बन गया है ।

आधुनिक युग में युद्ध एक राजनैतिक चाल ही है । सत्ता की मदान्धता इसका कारण बनता है । राजनीतिज्ञ अपनी चालों से स्वयं सुरक्षित रहता है और लडता मरता है, साधारण जनता । अपनी हैसियत को सुरक्षित रखने के लिए राजनीतिज्ञ जागरूक है । देश की शांति से उसका कोई

सरोकार नहीं । उसे हर पल अपने और अपनेवालों की भलाई की चिन्ता है । साथ साथ आज भी विश्व में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की लहरें उठ रही हैं । संसार में आज का सबसे बडा व्यापार हथियारों का क्रय-विक्रय है । विश्व की बडी बडी शक्तियाँ आधुनिक विज्ञान तकनीकी की सहायता से नूतन युद्ध सामग्रियों के निर्माण में लगी रहती हैं और संसार के अन्य देशों को उसे बेचते हैं । यह क्रय-विक्रय भी दूसरे देशों के बीच संघर्ष का कारण बनता है । हथियार संचय करने की होड में "संदेह, असुरक्षा और अन्धविश्वास की भावना निहित है। हथियार संचयन युद्ध को बढावा देता है । हर युग में युद्ध के बाद हथियारों पर रोक लगी है । पर हर युद्ध के बाद शस्त्र निर्माण में इजाफ़ा हुआ है । हथियार मनुष्यता के विनाश का कारण बनता है तो गर्हित है । आज के संदर्भ में हाथयार संचय जघन्य अपराध है । असीमित साधन मनुष्य के विवेक को कुंठित कर देता है, साम्राज्यवादी राष्ट्र इसके उदाहरण हैं ।"[1]

इस प्रकार के साम्राज्यवादी राष्ट्रों की चाल आज विश्व को चलाती है । इसलिए युद्ध के विरुद्ध शांति के मन्त्र गूँजते वक्त ही वह शांतिमंत्र वहीं मिट जाता है । साधारण जनता युद्ध नहीं चाहती शांति से जीना ही हरेक का लक्ष्य होता है । लेकिन राजनीति आज विश्व की पूँजी को खण्डित बनाकर लोगों को आपस में लडाती है । जैनेन्द्रकुमार का यह कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय ही हैं "लोग सहज भाव से लडना नहीं चाहते उनके बीच में तरह तरह के पार्थिव अभाव पैदा करके उनमें लडने का उत्साह पैदा किया जाता है ।"[2]

---

1. समकालीन सृजन (त्रैमासिक) - पृ. 7। - सं. शंभुनाथ
2. समकालीन सृजन (त्रैमासिक) - पृ. 8 - सं. शंभुनाथ

दोनों विश्वयुद्धों ने संसार की जनता पर काफी प्रभाव डाला । इसका साहित्य रचना में आये हुए बदलाव से ही स्पष्ट यह निकलता है । युद्ध की विभीषिका ने यूरोप को ही अधिक प्रहार पहुँचाया था । दूसरे महायुद्ध के बाद युरोपीय साहित्य में बौद्धिक विभ्रम, असुरक्षा, भय, अस्तित्व संकट, घुटन और संत्रास प्रचुर मात्रा में मौजूद है । इसके साथ भविष्य में ऐसे एक युद्ध की पुनरावृत्ति नहीं होने के लिए लेखकों और बुद्धिजीवियों ने अपनी रचनाओं में पूँजीवादी जगत, उसकी व्यवस्था एवं युद्ध की त्रासदी का चित्रण किया है । अनातोले फ्रांस (1884-1924), रोम्यां रोला (1866-1944), हेनरिख मान (1871-1950) टामस मान (1874-1953) और जैक लन्डन (1876-1916) जैसे लेखक इस कोटि के हैं । साहित्यकारों का यह श्रम सारे देश और सारी भाषाओं में हुआ है और हो रहा है । इन लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा साधारण जनता को इन बातों से अवगत कराया है कि राजनीति उनको धोखा देती है, विश्व की महाशक्तियाँ दुनिया के अन्य देशों को युद्ध सामग्रियों की मँडी बना देती हैं । रचनाकारों ने विश्व के सामने इस वास्तविकता को प्रस्तुत करना चाहा कि युद्ध में पराजित और विजेता दोनों की हानी होती है । आम जनता इसका शिकार बनती है । मरनेवाला और मारनेवाला दोनों विक्षिप्त हो जाते हैं । अन्त में मानसिक तनाव एवं टूटन ही दोनों में बाकी रह जाते हैं ।

युद्धोपरांत मानसिकता रूपी इस टूटन एवं तनाव को अतीत के सहारे आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने भी अपनी कृतियों में आंकने का प्रयास किया है । धर्मवीर भारती का "अन्धायुग" युद्ध की त्रासदी और उसकी अमानवीयता की ओर इशारा है ।

युद्ध की त्रासदी, उसकी अमानवीयता और उससे विक्षिप्त मानव की यातना हर युग का संकीर्ण मामला है । किसी व्यक्ति या गुट की स्वार्थनीति का फल सारे समाज को भोगना पडता है । मरने और मारने की इस प्रक्रिया में आम जनता विक्षिप्त होती है । युद्ध का कारण कुछ भी हो उसकी अन्तिम परिणति रक्तपात एवं हिंसा है । उसे बीच में कोई रोक नहीं सकता । नरसंहार की इस प्रक्रिया में सत्य और असत्य तथा धर्म और अधर्म की मर्यादायें टूटी जाती हैं । केवल विकार दोनों पक्षों को मथता है । विश्वयुद्धों की त्रासदी ने मानव को इसका भीषणतम रूप दिखाया था । युद्ध की यह विसंगति महाभारत युद्ध में भी दीख पडती है और इस कारण से ही धर्मवीर भारती ने युद्ध को जन्म देनेवाली वृत्तियों, शक्तियों एवं उसके परिणामों के कालातीत रूप का चित्रण महाभारत युद्ध के प्रसंग द्वारा उभारने की कोशिश की है ।

विधर्मियों के सर्वनाश के लिए और सत्य, न्याय और धर्म की संस्थापना के लिए महाभारत युद्ध लडा गया था । लेकिन अपने लक्ष्य से विचलित होकर वह भी मात्र नरसंहार का पर्याय बन गया था । कौरव और पाण्डव दोनों ने ही सत्य और धर्म का पालन नहीं किया । विजय की लालसा में उन्होंने बन्धु-बान्धवों और सह-संबंधियों को धोखा देने के लिए भी नहीं हिचका । धर्मवीर भारती ने इस विसंगति को इसप्रकार व्यक्त किया है -

"टुकडे टुकडे हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोडा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज़्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है ।
यह अजब युद्ध है नहीं किसी के जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है ।"[1]

राजनीति का अन्धापन हमेशा युद्ध के लिए नींव डालता है । राजनीतिक स्वार्थों के लिए शासक जिस न्याय को अपनाता है वह कभी-कभी रक्तपात में परिणत हो जाता है । चाहे साम्राज्यवाद हो या उपनिवेशवाद, इन लक्ष्यों की पूर्ति मानव मानव के बीच टकराहट के बिना संभव नहीं होती । शासक की स्वार्थ चिन्ता, अन्धी नीति अपनाने के लिए उसे बाध्य कर देती है । "अन्धा युग" में अन्धे धृतराष्ट्र की स्वार्थ नीति युद्ध का कारण बना । डा. मालती सिंह ने इस संदर्भ में ऐसा कहा है कि "धृतराष्ट्र के अन्धत्व को भारती ने अत्यन्त व्यापक आयाम प्रदान किया है । वह उस पूरे युग का प्रतीक है । यह अन्धत्व युगातीत है । यह अन्धत्व उस प्रत्येक युग का प्रतीक है, जब शासक बाह्य जगत एवं व्यापक मानवता से असंपृक्त होकर व्यक्तिगत संवेदनाओं के माध्यम से राज्य अथवा देश को संचालित करने लगता है । आधुनिक युग के परिदृश्य में भी धृतराष्ट्र की प्रतीकात्मकता स्वार्थ भूमिका का निर्माण करती है । हिटलर एवं मुसोलिनी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं ने विश्वयुद्ध का बीजारोपण किया था ।"[2] शासक की स्वार्थता रूपी इस अन्धता को धृतराष्ट्र स्वयं

---

1. अंधा युग - पृ. 11-12 - धर्मवीर भारती
2. मिथक एक अनुशीलन - पृ. 65 - मालती सिंह

स्वीकार करते हैं कि अन्धत्व के गहरे अंधियारे से उसके मन के सारे भाव विकलित हुए थे ।

"मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिलकुल मेरा ही वैयक्तिक था
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदण्ड था ही नहीं
कौरव जो मेरी माँसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी,
मर्यादा थी ।।"[1]

युद्ध का कारण जो भी हो सकता है लेकिन उसका परिणाम सर्वनाश ही है । उजडे हुए देश, टूटा मानव मन और संस्कृति इसकी उपज है । आधुनिक युग की इस त्रासदी को भी भारती ने उजडी हुई कौरव नगरी के चित्र द्वारा हमें दर्शाने की कोशिश की है । अन्धायुग में चित्रित कौरव नगरी आज के कोई भी देश हो सकता है जहाँ संघर्ष हो चुका हो ।

"बादल नहीं है
ये गिद्ध हैं
लाखों करोडों
पाँख खोले
× × ×

---

1. अन्धा युग - पृ. 18 - धर्मवीर भारती

लो
सारी कौरव नगरी
का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया ।"[1]

युद्ध मानव जीवन की अस्थिरता का संग्राम है । व्यक्ति के सपने, आकांक्षायें सब इससे कुचला दिये जाते हैं । भारती ने प्रहरियों के माध्यम से उसे इस प्रकार दिखाया है -

"सुने गलियारे में
जिसके इन रत्न-जटित फर्शों पर
कौरव वधुएँ
मन्थर मन्थर गति से
सुरभित पवन तरंगों सी चलती थी
आज वे विधवा है ।"[2]

नाटक में दोनों प्रहरी जनसाधारण के प्रतीक हैं जिनका हर कार्य शासन के आदेशानुसार होते रहते हैं । उनकी अपनी कोई इच्छा और अपना कोई संकल्प नहीं है । वे शासकों के दिखाये गये मार्ग में यंत्र की तरह चलने के लिए बाध्य है । वे दायें से बायें और बायें से दायें ओर निश्चित

---

1. अंधा युग - पृ. 14 - धर्मवीर भारती
2. अंधा युग - पृ. 12 - धर्मवीर भारती

राह में चलते हैं । उनके भालों को किसी की रक्षा करने का अवसर भी नहीं आया । स्वयं वे ही असुरक्षा का अनुभव करते हैं । उन्हें उन शासकों की रक्षा करना है जिसके पास मूल्यों की दृष्टि से रक्षणीय कुछ भी नहीं है । व्यर्थ जीवन के कारण उनकी आस्था एवं मर्यादा टूट गयी हैं । प्रहरी के इस कथन से यही भाव उभड आता है -

"सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में
भाले हमारे थे
ढालें हमारी थी
निरर्थक पडी रही
अंगों पर बोझ बनी
रक्षक थे हम केवल
लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ
अस्तित्व का हमारे
कुछ भी अर्थ नहीं था ।[1]

प्रहरियों के भाले से युयुत्सु आत्मघात करने का प्रयत्न करता है तो वे बिलकुल अमानुषिक तृप्ति का अनुभव करते हैं । क्योंकि तब उनके हथियारों का कुछ उपयोग हुआ । स्थितिगतियों का कोई प्रभाव उन पर नहीं पडता है । इस प्रकार दोनों प्रहरी जड़ अनुशासन से उत्पन्न अनुभूति हीन यांत्रिक प्रजा की ओर संकेत करते हैं ।

1- अंधा युग - पृ. 12-13 - धर्मवीर भारती

युयुत्सु, संजय और अश्वत्थामा प्रहरियों के समान युद्धजन्य विक्षिप्त मानसिकता के अधिपति हैं । युयुत्सु ने सत्य का मार्ग अपनाया इसलिए धर्म का पक्ष ग्रहण करने के उद्देश्य से पाण्डवों का साथ दिया था । मूल्यों और मर्यादाओं का पथ लेने के कारण उसे अपने बन्धु-बान्धवों से अलग होना पडा । लेकिन पाण्डव पक्ष के अधर्म युक्त आचरण उसकी आस्था को जर्जरित कर देता है । उसकी आस्था टूट जाती है । युयुत्सु का मोहभंग मूल्यों एवं मर्यादाओं के टूटने से उत्पन्न हुआ है । सत्य का पक्ष लेते हुए अपने भाइयों के विरुद्ध लडने के बावजूद अपनी माँ की कटुता और प्रजाओं की घृणा उसके अन्तर्मन को अनाथत्व एवं जर्जर मनस्थिति में डुबा देता है । इसलिए वह कहता है -

"अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो अथवा असत्य का ।"[1]

युयुत्सु जब अपने अग्निबाणों से झुलसा गया एक आहत गूँगे सैनिक को पानी पिलाने आता है तो उसे देखकर वह सैनिक चीखता हुआ भाग जाता है । यह घटना भी युयुत्सु की आत्मग्लानि का कारण बनती है और आत्मघात करने के लिए उसे विवश करता है । उसके मन के भाव उक्त पंक्तियों में मुखरित है -

"व्यास ने कहा, मुझसे, कृष्ण जिधर होंगे
जय भी उधर होगी, जय है यह कृष्ण की

---

1. अंधायुग - पृ.57 - धर्मवीर भारती

जिसमें मैं वधिक हूँ, मातृवंचित हूँ
सबकी घृणा का पात्र हूँ ।"[1]

युयुत्सु को ऐसा प्रतीत होता है - वह उस पहिये की तरह है जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा था । पर उसकी धुरी गलत थी और अब वह उस धुरी से उतर गया है । अपनी करनियों से उसे पछतावा एवं घृणा उत्पन्न होते हैं । इसलिए वह बन्धुजनों के तर्पण के अवसर पर कहता है -

"जिसने किया हो खुद वध
उसकी अंजलि का तर्पण
स्वीकार किसे होगा भला ।"[2]

नाटक में धर्मवीर भारती ने युयुत्सु को एक व्यक्ति से अधिक युद्धोपरांत उत्पन्न आत्मघाती संस्कृति के रूप में दिखाया है । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है कि "आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर - "अंधा युग" में युयुत्सु का है जो आधुनिक आचरणों के विभ्रमों का प्रतीक है - प्रेतावस्था में भी उसके हृदय का अन्तर्विरोध शान्त नहीं होता । वह अट्टहास करके आस्था को घिसा हुआ सिक्का बताता है । पर इस नकली और खोटे सिक्के को फेंककर भी वह उसे दूसरे रूप में ग्रहण करता है ।"[3]

---

1. अंधायुग - पृ. 59 - धर्मवीर भारती
2. अंधायुग - पृ. 87 - धर्मवीर भारती
3. हिन्दी नवलेखन - पृ. 91 - रामस्वरूप चतुर्वेदी

युद्ध में किसी का भी पक्षधर नहीं होने पर भी संजय युद्ध की प्रतिक्रियाओं से मुक्त नहीं है । उसे कौरवों और पाण्डवों के दो पहियों के बीच धुरी में लगा हुआ छोटे निरर्थक शोभा चक्र की तरह चित्रित किया है । वह पहियों के साथ घूमता है, पर न रथ को आगे बढाता है न धरती को छू पाता है और दुर्भाग्य यह है कि धुरी से उतर भी नहीं सकता है । संजय तटस्थ, निरपेक्ष और निष्क्रिय है । यथार्थ को भोगे बिना उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं । इसलिए वह पराजय स्वीकार करता है -

"जीवन भर रहा मैं निरपेक्ष सत्य
कर्मों में उतरा नहीं
धीरे धीरे खो दी दिव्य दृष्टि ।"[1]

युयुत्सु के समान अश्वत्थामा भी खण्डित व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं । यहाँ एक में आत्मघाती वृत्ति जाग उठती है और दूसरे में प्रतिहिंसा । धर्मात्मा माननेवाले युधिष्ठिर के अर्धसत्य ने अश्वत्थामा को विकलित एवं बर्बर बना दिया । अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन गया है । वध ही उसके अस्तित्व का अन्तिम अर्थ बनता है । उसके विक्षिप्त मन की व्याकुलता इन शब्दों में मुखरित है -

"उस दिन से
मेरे अन्तर भी
जो शुभ था, कोमलतम था

---

1. अंधायुग - पृ. 21 - धर्मवीर भारती

उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्धसत्य ने कर दी
उस दिन से मैं हूँ
पशुमात्र, अन्ध बर्बर पशु..... ।"[1]

युद्ध में मूल्यों के टूटने का परिणाम है अश्वत्थामा, जो केवल महाभारत का ही नहीं आधुनिक युद्धोत्तर मनोवृत्ति को भी अपने में समाहित करता है । सुरेश गौतम ने अश्वत्थामा की पाशविकता और बर्बरता को यों स्पष्ट किया है कि "अंधायुग" के अश्वत्थामा के अन्दर की कुरूपता आधुनिक मनुष्य की कुरूपता है उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की पाशविकता है उस आधुनिक मानव की जिसके अन्दर निरन्तर एक युद्धवृत्ति विधमान रहती है । इस तरह अश्वत्थामा केवल पौराणिक पात्र नहीं ; आधुनिक मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक बन जाता है ।"[2]

प्रतिशोध की आग से जलकर अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है । वह स्वयं इस बात से अवगत है कि ब्रह्मास्त्र की विभीषिका भयानक और प्रलयंकारी है । फिर भी उसके मन की पाशविक वृत्ति सब कुछ नष्ट करने का विचार पैदा करती है । नाटककार ने ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के संदर्भ द्वारा आधुनिक युग के मानव की संहारात्मक परमाणु अस्त्रों की ओर

---

1. अंधायुग - पृ. 32 - धर्मवीर भारती
2. अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि - पृ. 41 - सुरेश गौतम

प्रकाश डाला है । आज मानव इसका विनाशकारी प्रत्याघात को जानते हुए भी उसके निर्माण एवं प्रयोग से नहीं हिचकता । व्यास द्वारा ब्रह्मास्त्र की विभीषिका की चेतावनी देना आधुनिक मनुष्य को भारती द्वारा दी गयी चेतावनी ही है ।

"मैं हूँ व्यास
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का ।
यदि यह लक्ष्यभ्रष्ट हुआ हो नर पशु
तो आगे आनेवाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुण्ठाग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी
जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सत्युग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा- सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे ।
नदियों में बह-बहकर आयेगा पिघली आग ।।"[1]

दूसरे विश्वयुद्ध ने मानव राशि को कितना आघात पहुँचा दिया और उसमें प्रयुक्त अणु शस्त्रों की भयानकता की ओर भारती ने प्रकाश डाला है ।

---

1. अंधायुग - पृ. 92-93 - धर्मवीर भारती

नाटक में धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर शासक वर्ग के प्रतिनिधि हैं । हर दृष्टि से वे भिन्न दृष्टि के होने पर भी जनता को उसकी नीति समान ही है । यहाँ धर्मवीर भारती ने आधुनिक शासक की ओर संकेत किया है । प्रहरियों के वार्तालाप से यह स्पष्ट सिद्ध होता है -

"शासक बदले
स्थितियाँ बिलकुल वैसी हैं
इससे तो पहले के शासक अच्छे थे
अन्धे थे
लेकिन वह शासन तो करते थे
ये तो सत्य ज्ञानी है
शासन करेंगे क्या
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की ।।"[1]

युद्ध का परिणाम विजयी को भी नहीं छोडता । आत्मघाती पतनोन्मुखी प्रवृत्ति देश और जनता को जिसप्रकार घेरती है उसका प्रभाव शासक को भी भोगना पडता है । विजय के बाद युधिष्ठिर के मन की टूटन इसका स्पष्ट प्रमाण है । उसे विजेता के खोखलेपन का तीखा एहसास होता है -

"और विजय क्या है
एक लम्बा और धीमा
और तिल तिल कर फलीभूत
होनेवाला आत्मघात ।"[2]

---

1. अंधायुग - पृ. 107 - धर्मवीर भारती
2. अंधायुग - पृ. 117 - धर्मवीर भारती

इस प्रकार युद्ध, युद्धोत्तर ह्रासोन्मुखी संस्कृति, अनास्थावादी दृष्टिकोण, अन्धे शासन और अन्धे शासकों की ओर महाभारत के उत्तरार्ध की घटनाओं के द्वारा धर्मवीर भारती ने तर्जनी उठायी है । नाटक की कथा महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभातक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु तक की है । यह वृत्ति अतीत और वर्तमान को जोडकर आधुनिक भावसंवेदना को उभारती है । इन्द्रनाथ मदान का यह कथन सच्चे निकलते हैं कि "अन्धायुग में मिथकीय पद्धति को इसलिए अपनाया है ताकि विगत को आगत से जोडा जा सके और निरन्तरता में आस्था पैदा की जा सके । अन्धायुग में विगत और आगत के दो छोर एक दूसरे के आमने - सामने हैं और मिथकीय पद्धति इन छोरों को मिलाने के काम आती है । इसलिए यह रचना दो स्तरों पर चलती है - विगत और आगत के स्तरों पर चलकर दो मायनों को उजागर करती है ।"[1]

युद्ध की अनिवार्यता और युद्ध की विभीषिका इन दोनों पर दुष्यंतकुमार ने "एक कंठ विषपायी" नाटक में विचार किया है । स्वयं नाटककार ने इस विषय में लिखा है "हम जो नये से चौंकते हैं, उसका विरोध करते हैं, हम जो सत्य से बचते हैं और कतराते हैं और उन प्रश्नों पर मनन नहीं करते जो कटु नये या अनपेक्षित होते हैं, हम जो एक परंपरा के मर जाने पर दुखी होते हैं उसके शव को अरसे तक ढोते हैं और मृत्यु या समाप्ति के सहज सत्य को स्वीकार नहीं करते, यह तथा युद्ध आदि के प्रश्न मैं ने नाटक में उठाये हैं ।"[2]

---

1. धर्मवीर भारती - पृ. 117-118 - सं. लक्ष्मणदत्त गौतम
2. एक कंठ विषपायी - (आभार कथा) - दुष्यंतकुमार

आधुनिक युग के वातावरण में राज्यों के बीच और मानव मानव के बीच अविश्वास बढ रहा है । व्यक्ति और राज्य के बीच अपने को शक्तिशाली एवं श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी दिखायी पडती है । एक कंठ विषपायी में दक्ष और शिव दोनों इस प्रकार की मनोभावना रखनेवाले दो व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत है । जिनके आपसी संघर्ष युद्ध को नींव डालती है । इस संदर्भ हुकुमचन्द राजपाल का कथन ठीक लगता है "आज चारों ओर विषमता का वातावरण व्याप्त है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपमानित कर नीचा दिखलाना चाहता है - एक देश दूसरे देश के प्रति प्रतिशोध की भावना को आश्रय रहा है । इन्हीं युगीन सन्दर्भों का संयक् निर्वाह कवि ने परंपरित कथा के आधार पर किया है ।"[1] नाटक में दक्ष यह मानता है कि शिव ने उसकी भोली भाली कन्या सती को पथभ्रष्ट करके उसके यश पर लाँछन लगाया है । इसके कारण समाज में दक्ष अपमानित बन गया । इसलिए किसी भी प्रकार शिव को क्षमा देने के लिए वह तैयार नहीं । उसकी प्रौढता एवं आत्माभिमान यज्ञ में शिव को न आमंत्रित करने के लिए उसकी प्रेरणा बनती है । शिव की प्रतिष्ठा खंडित करने के उद्देश्य से दक्ष ने अपने घर में आयोजित यज्ञ में शिव को छोडकर बाकी सारे प्रजापतियों को चुन चुनकर न्योता देता है । दक्ष को यह ज्ञात है कि यज्ञ में अन्तर्हुत किये जाये तो शंकर अपमानित होगा और इस प्रकार प्रतिशोध करना ही दक्ष का लक्ष्य रहा ।

"सारे भद्र लोक से उसे
बहिष्कृत करके छोडूँगा मैं ।
उन दोनों ने केवल मेरी

---

1. विविध बोध नये हस्ताक्षर - पृ. 12। - हुकुमचन्दराजपाल

बाह्य प्रतिष्ठा खण्डित की है
उनकी आत्म-प्रतिष्ठा का भ्रम तोड़ूँगा मैं ।"[1]

पुत्री और दामाद को निमंत्रण देने के लिए वीरणी अनुनय विनय करती है लेकिन सत्ता का दंभ दक्ष को उससे रोकता है । दक्ष की यह हठधर्मिता युद्ध में परिणत हो जाती है । दक्ष के जिद के कारण उसकी यज्ञवेदी उसकी पुत्री सती की बलिवेदी बन गयी । सती का स्वयं भस्त हो जाते देखकर शिव के गणों तथा नन्दी सब मिलकर यज्ञवेदी पर रक्तपात करते हैं । डा. मालती सिंह दक्ष की हठधर्मिता को इस प्रकार युगीन परिवेश से जोडा है । "व्यापक संदर्भ में दक्ष उस सामंती एवं साम्राज्यवादी शक्ति का प्रतीक है जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, विद्वेष एवं अहम् के लिए बडे बडे युद्धों तथा भीषण नरसंहार को जन्म देता है । दक्ष द्वारा शिव का अपमान ही वह केन्द्रीय कारण था जिसने शिव की संहारक शक्तियों को उभारा था तथा भीषण रक्तपात हो नहीं, वरन् शंकर एवं देवताओं के मध्य युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी थी ।"[2]

नाटक में युद्ध के औचित्य और अनौचित्य पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है । कुछ शासक ऐसे होते हैं जो युद्ध को सबकेलिए समाधान समझनेवाले हैं । नाटक में इन्द्र के चरित्र से ऐसे एक शासक का व्यक्तित्व

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ. 24 - दुष्यंतकुमार
2. मिथक एक अनुशीलन - पृ. 32 - डा. मालती सिंह

उभर आता है । नाटक में शंकर की प्रतिहिंसा एवं उसकी सेनाओं के तुमुलनाद करती हुई अग्रसर होने की वार्ता इन्द्र को युद्ध करने के लिए प्रेरणा देती है । इन्द्र के मत में युद्ध अनिवार्य है । कुबेर और वरुण भी इसके लिए इन्द्र को उत्तेजित करते हैं । इन्द्र द्वारा ब्रह्मा से युद्ध की आज्ञा माँगने पर भी ब्रह्मा युद्ध को समस्या का समाधान नहीं समझता है । ब्रह्मा यह मानता है कि शासक का कर्म प्रजापालन है जहाँ युद्ध से सामूहिक आत्मघात होता है ।

"युद्ध
अधिक से अधिक विशिष्ट परिस्थितियों में
समाधान का संभव कारण बन सकता है
यही नियम है
लेकिन कोई शासक मन में
स्वयं युद्ध को
किसी समस्या का किंचित भी
समाधान समझे तो भ्रम है ।"[1]

लेकिन इन्द्र, वरुण, शेष और कुबेर प्रतियुद्ध के पक्षपाती हैं वे हिंसा को शंकर के अहंकार नष्ट करने के लिए अवश्य साधन मानते हैं । उनकी राय इन पंक्तियों में स्पष्ट निकलती है ।

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ. 100-101 - दुष्यंतकुमार

"जहाँ न्याय की हत्या से
अन्याय सफल हो
जहाँ शक्ति को अहंकार हो
सत्य विकल हो
जहाँ विवश या शौर्य
झुकाए शीश, सिहरता
जहाँ प्रबल हों असुर
और निर्बल हो भक्ती
वहाँ धैर्य का दुर्ग अन्ततः ढह जाता है
और एकमात्र उपाय युद्ध ही रह जाता है ।"[1]

युद्ध के औचित्य अनौचित्य को लेकर कुबेर, वरुण, शेष और ब्रह्मा के बीच होनेवाला बहस बिलकुल प्रासंगिक है कि ये युद्ध विरोधी और युद्ध समर्थक मनोवृत्ति आज की भी है । युद्ध के समर्थक युद्ध की विभीषिकाओं में से तनिक भी चिन्तित नहीं सदा कुर्सी हथियाने की चिन्ता उन्हें घेरती हैं ।

अहिंसावादी और शांति पक्ष के विष्णु द्वारा प्रणाम बाण छोडकर सती के शव को छिन्न भिन्न कर डालने के पीछे युद्ध और समझौते का प्रमाण उभर आता है । वह अपने कुरूप भीषण विध्वंस का दायित्व लेना नहीं

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ. 104 - दुष्यंतकुमार

चाहता । इसलिए प्रणाम बाण छोडकर शिव को चुनौती देता है ।

"लेकिन मेरा मूल बाण शिव के चरणों में
एक चुनौती या प्रणाम का अर्थ कहेगा
चाहे वे प्रणाम स्वीकारें
चाहे वे युद्ध की चुनौती
हर हालत में सत्य हमारी ओर रहेगा
अन्तिम विजय हमारी होगी ।"[1]

युद्धजनित विद्रूपताओं को तथा निरीह आम जनता की टूटन को नाटककार ने इसमें अभिव्यक्ति दी है । युद्ध चाहे शासकों के बीच के सत्ता दंभ और पद मोह से हो या अन्य किसी कारण से, साधारण मनुष्य इसमें पीडित हो जाता है । उसको ही युद्धजनित निर्मम यथार्थ को भोगना पडता है । नाटक में सर्वहत के द्वारा ऐसी जनता की व्याकुलता की ओर संकेत किया गया है । वह अपने जीवन में कलश कंगूरेवाले महल नहीं चाहता है और उसे चौडे राजपथ की अभिलाषा भी नहीं रहती लेकिन शासकों की महत्त्वाकांक्षा का उसे निर्दोष होते हुए भी उत्तरदायी बनना पडता है । सर्वहत का यह वक्तव्य इसका सही प्रमाण है -

"शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पडता है
उसे गलित मूल्यों का दण्ड भरना पडता है

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ. 125 - दुष्यंतकुमार

और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ
मैं प्रजा भी हूँ ।"[1]

युद्ध से सर्वनाश होता है । उजडी हुई नगरी और ह्रासोन्मुख संस्कृति इससे उगती है । शर व्रण से घायल और व्याकुल सर्वहत द्वारा नष्टभ्रष्ट नगरी का चित्रण युद्ध की परिणति की ओर प्रकाश डालता है ।

"कौन कहता है
यहाँ कुछ भी नहीं है शेष
वहाँ शेष ही ये सबकुछ ।
सारे शहर में ताज़ा
जमा हुआ रक्त है
और सडी हुई लाशें हैं
मुडी हुई हड्डियाँ हैं
क्षत-विक्षत तन है
कंगूरें है
कलश है
अतिथि भवन है
सिर्फ लोग नहीं है तो क्या हुआ ।"[2]

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ. 49 - दुष्यंतकुमार
2. एक कंठ विषपायी - पृ. 47-48 - दुष्यंतकुमार

सत्ताधारियों के लिए युद्ध व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति मात्र है लेकिन वहाँ मानव अपनी मूलगत आवश्यकताओं से भी वंचित हो जाता है । अधिकार वर्ग को पद एवं धन की भूख रहती है और आम जनता को जीवन रक्षा की भूख होती है । भूख से तडपती साधारण जनता का चित्र सर्वहत के द्वारा नाटककार ने उभारा है ।

"और मैं अचेत हो गया था
किन्तु मैं विभुक्षित भी था
इसीलिए आँख जब खुली
तो मैं
दो रोटी पाने की आशा में
इतना सब रक्तपात सहकर भी
यहाँ तक चला आया था ।"[1]

निराशा, कुंठा, क्षुब्धता और संत्रास का शिकार बना सर्वहत आधुनिक युग के शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है । किसी भी युग के प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था को तथा युद्ध और उससे उपजनेवाले मानव मन के विध्वंस को दुष्यंतकुमार ने इस नाटक में पुराण कथा को आधार बनाकर खींच लिया है ।

शासकों की स्वार्थ लिप्सा उसे युद्धमोही बनाती है । लेकिन इस संकट में आम जनता असहाय एवं आक्रान्त बनती है । गिरिराज किशोर ने इस सार्वकालिक प्रश्न को "प्रजा ही रहने दो" नाटक में आंका है ।

---

1. एक कंठ विषपायी - पृ.९० - दुष्यंतकुमार

धृतराष्ट्र और गान्धारी अपने पुत्र दुर्योधन के हर कुकर्म का समर्थन करते हैं । इसलिए कि वे सत्ता के नशों में मस्त है और अपनी आनेवाली पीढी के हाथों में सत्ता को सुरक्षित रखना चाहते हैं । स्वार्थनीति हमेशा शासक को युद्ध की चुनौती देती है । पाण्डवों को सिर्फ पाँच गाँव देने के कृष्ण की बिनती सुयोधन द्वारा ठुकरायी गयी तथा अन्धे शासक को इसमें कोई अनीति न दीख पडती । समझौते के बजाय उन्होंने युद्ध को एक अनिवार्य स्थिति बना दी । युद्ध को रोकने की और प्रजा और देश की भलाई की चिन्ता उसे सताती नहीं । अन्धी नीति से उपजा सुयोधन युद्ध को सभी समस्याओं का हल माननेवाला है । धृतराष्ट्र में युद्ध के प्रति जो आशंका है वह गांधारी और सुयोधन में नहीं । गान्धारी युद्ध को महत्वाकांक्षी शासकों की नियति का अन्तिम चुनौती मानती है जो उसके कथन से ही स्पष्ट है - "राजनीति को समय के अनुरूप बनने दो महाराज । मैं ने आप से पहले ही कहा था, यह खेल यहीं समाप्त नहीं होगा । कडी में कडी जुडती जाएगी । अन्ततः युद्ध ही हमारी नियति होगी । मैं जानती हूँ युद्ध मनुष्य को अपंग और दृष्टिहीन बना देनेवाली राजनीति है । लेकिन जो तीर चल चुका है उसे वपिस लेने की बात सोचना मूर्खता का परिचायक होता है ।"[1]

युद्ध में पक्ष और विपक्ष के लोग होते हैं लेकिन विनाश का फल सब को भोगना पडता है । शासक तो एक अमुक लक्ष्य से लडते हैं लेकिन निरीह जनता को आपस में लडने के लिए छोडकर वे उसको लक्ष्यहीनता एवं असहायता में धकेलते हैं । महाभारत युद्ध में भी ऐसा ही हुआ था ।

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ.25 - गिरिराज किशोर

पक्ष-विपक्ष के अनेक मारे गये । जनता और शासक अपने सगे-संबंधियों को खो बैठे । शेष रह गया केवल नष्ट-भ्रष्ट समाज । घायल प्रहरियों के द्वारा नाटककार ने यह कहने का प्रयास किया है कि यदि चाहे तो दोनों पक्ष के लोग युद्ध को रोक सकते थे । प्रहरी का कथन इसका प्रमाण है । "युद्ध की ताली की तरह दोनों हाथों से ताली बजती है..... एक, एक बाण छोडता है दूसरा दो छोडता है....."[1] अर्जुन ने अग्निबाण छोडा था और कर्ण ने ब्रह्मास्त्र छोडा फिर भी किसी की भी आँख नहीं खुली । विध्वंसकारी युद्ध में अकेले शासक या राजा को छोडकर बाकी सब बुरी तरह रौन्दी जाती है । लेकिन शासक का बाल तक नहीं बांका जाता । यही युद्ध की नीति है । महाभारत युद्ध में भी अपनी महत्वाकांक्षा और अरमानों को तृप्त करने के लिए धृतराष्ट्र ने अपनी प्रजा को ही नहीं बल्कि अपने बन्धु-बान्धवों तक बली देते हैं । युद्ध का विध्वंस उसे छुता भी नहीं । युद्ध की समाप्ति पर जो लोग बच गये उसका बचना, बचना नहीं रह गया । क्योंकि वे अपाहिज थे नहीं तो बच्चे थे ।

युद्ध से अस्तव्यस्त एवं नष्ट-भ्रष्ट समाज का पुनर्निर्माण आसान नहीं होता । जनता की शक्ति का, सालों से बटोरी हुई संपत्ति का और नगर का पल में विनाश होता है । उजडी संस्कृति का फिर पनपने में युगों की अवधि लगेगी । प्रहरी का उक्त कथन इस तथ्य की ओर संकेत है -

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ. 97 - गिरिराज किशोर

"बच्चों के बड़े होने में सालों लग जायेंगे और बचे हुए अपाहिज जीने के संघर्ष में मर जायेंगे ।"[1] गिरिराज किशोर दो विश्वयुद्धों की विनाशकारी विकृतियाँ यहाँ प्रक्षेपित करने की कोशिश में है ।

राजनीति आज अपनी परिकल्पना से बहुत दूर हो गयी है । ऐसे राजनीतिक दास्तान की अभिव्यक्ति देने के लिए नाटककार दत्तचित्त हुए हैं । पहला राजा, नरसिंह कथा, एक सत्य हरिश्चन्द्र, कथा एक कंस की, सूर्यमुख, प्रजा ही रहने दो, आषाढ़ का एक दिन, कोणार्क, हानूश, आठवाँ सर्ग, अन्धायुग, एक कंठ विषपायी इत्यादि नाटकों के अध्ययन के बाद हम कह सकती हैं कि ये नाटक अपनी ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता को कायम रखते हुए समकालीन राजनीति की सच्चाई को प्रस्तुत करने में कामयाब निकले हैं ।

---

1. प्रजा ही रहने दो - पृ. 93 - गिरिराज किशोर

अध्याय - चार

नारी शोषण का अन्तहीन सिलसिला

अध्याय - चार

नारी शोषण का अन्तहीन सिलसिला

समाज में प्राचीनकाल से लेकर नारी की दशा दयनीय रही है । त्याग और बलिदान की मूर्ति कहलाकर उसके शोषण करने की प्रथा परंपरा से चली आ रही है । यह बात तो सर्वमान्य है कि समाज को कायम रखने के लिए, मनुष्य जीवन को धरती में बनाये रखने के लिए तथा परिवार की सुदृढ़ता के लिए पुरुष और स्त्री दोनों का समान योगदान है । लेकिन एक व्यक्ति के रूप में पुरुष के समान स्वतंत्रता से जीने का नारी का जो अधिकार है वह उससे छीन लिया गया और उसके बदले सामाजिक रूढियों, प्रथाओं और नैतिकता के भिन्न भिन्न बन्धनों में फँसाकर उसके व्यक्तित्व को पंगु बनाया । सामाजिक बन्धनों ने जीवन में अमृत पीने का योग पुरुष को और विष पीने का योग स्त्री को प्रदान किया है ।

नारी शोषण का एक प्रमुख कारण नारी को अपनी अहम् की पूर्ति के लिए बलि देनेवाली पुरुष की मनोवृत्ति है । पुरातन काल से समाज में यह कायम रहा और आज भी कायम है । हमारे पुराण और इतिहास इसके लिए अनेक प्रमाण देते हैं । प्राचीनकाल से आज तक समाज में पुरुष की हुकूमत चल रही है । उसने आरंभ से स्त्री पर अस्वतंत्रता की बेडियाँ डाल दी । एक ही समय उसे शक्ति के रूप में श्रद्धा का पात्र और चंचल वृत्ति नारी के रूप में घृणा का पात्र चित्रित किया गया है । श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने

अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष 1975 के अवतर पर प्रसारित सन्देश में कहा है कि "भारत में नारी की स्थिति विरोधाभासपूर्ण रही है । परंपरा से नारी को शक्ति का रूप माना गया है किन्तु आम बोलचाल में उसे अबला कहा जा सकता है ।"[1]

समाज में नारी की हैसियत : समय के आइने में -

संसार की सभी संस्कृतियों और धर्मों में नारी को ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है । गत भारतीय संस्कृति को देखें तो यहाँ वेदों और उपनिषदों में स्त्री को विशिष्ट स्थान दिया गया है । उपनिषद पत्नी से पुरुष की पूर्णता मानता है । सभी धर्मों ने (मजहब नहीं) उसे आदि शक्ति के रूप में देखा है और उसे जगत्माता का आदर भी दिया है । चन्द्रबली त्रिपाठी ने लिखा है कि "धर्म ग्रंथों में स्त्रियों को आदिशक्ति के नाना रूपों में देखने की परंपरा हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन है । ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में नारी का अभिचित्रण उसके कर्मठ जीवन, त्याग, उत्सर्ग आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके गौरव के सर्वथा अनुरूप हुआ है ।"[2]

लेकिन वैदिककाल में स्त्री को समाज में जो स्थान प्राप्त था वह वेदकालीन सभ्यता के द्वितीय चरण के प्रारंभ होते ही नष्ट होने लगा ।

---

1. भारतीय नारी दशा दिशा - पृ. 6 (प्रकाशकीय वक्तव्य) - आशारानी व्होरा
2. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास - पृ. 22

उत्तर वैदिककाल में स्त्री की स्थिति ह्रासोन्मुख होने लगी । "रामायण और महाभारत में कहीं कहीं उसे श्रद्धा के और कहीं हीनता के पात्र के रूप में चित्रित किया गया है । इसलिए यह मानना होगा कि यहाँ से नारी शोषण शुरू गया होगा । श्रीमती आशारानी ब्होरा के शब्दों में "यह निश्चित है कि उत्तर वैदिककाल में व उसके बाद रामायण-महाभारत काल में नारी के अधिकार पहले जैसे नहीं रहे थे ।"[1]

आगे चलकर स्मृतियों के काल में नारी का दर्जा नीचे निर्धारित करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में दिखाई देती है । पुरुषों की विशेष सुविधाओं को ध्यान में रखकर बनाये गये सामाजिक नियमों की जंजीरों में स्त्री बुरी तरह जकड गई । वह अवहेलना का पात्र बनने लगी । मनुस्मृति में मनु ने कहा कि "स्त्री को स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए । बाल्यावस्था में वह पिता, यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र की अधीनता में रहा करती है ।"[2] इस संकुचित कथन से तत्कालीन समाज में नारी के लिए निर्धारित आचरण का स्पष्ट परिचय हमें मिलता है । आश्चर्य की बात यह है कि जहाँ जिस समाज में उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी, वह उससे छीन ली गयी । कमलापति त्रिपाठी के अनुसार "जिस देश में सृष्टि, स्थिति और विनाश की सनातनी शक्ति की कल्पना नारी के रूप में की गयी थी और

---

1. भारतीय नारी दशा दिशा - पृ. 16 - आशारानी ब्होरा
2. "बाल्या का युवत्या का वृद्धया वाऽपि योषिता ।
   न स्वातंत्र्येण कर्तव्य किंचित्कार्य गृहेष्वपि ।।
   बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
   पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेन्स्त्री स्वतंत्रताम् ।।"
   बास स्मृतियाँ - पृ. 144 - सं. आचार्य श्रीराम शर्मा

कहा गया था कि समस्त स्त्रियाँ उसी महादेवी का स्वरूप हैं वही उसे चंचला, स्वातंत्र्य के अयोग्य विषमयी और सब दुखों की खान तक बताया गया है ।"[1]

इस प्रकार प्राचीन भारत में स्त्री की स्थिति में विविधता का रूप मिलता है । इतिहासकारों ने लिखा है "प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री को जो स्थान मिला था, उसमें एकरूपता नहीं है । उसको जीवन में स्वतंत्रता नहीं मिलती थी । वे हमेशा बड़े लोग जैसे पिता और पति के अधीन में और उन दोनों के अभाव में पुत्र के आश्रय में रहा करती थी ।"[2]

हर युग में सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक नियमों का आविर्भाव होता है । मध्ययुग में आकर विदेशी आक्रमण के कारण स्त्रियों के ऊपर और भी कड़े नियम लागू किये गये । सामाजिक बदलाव के साथ-साथ सुरक्षा की दृष्टि से नैतिक मूल्यों में परिवर्तन लाया गया ।

---

1. बंदी की चेतना - पृ. 45

2. The position of the women in axient India was not Uniform It is true that they neverhad a free life and were always under the care and control of their elders, father and husband and on the death of both under their Sons"

'A Social & Economic history of India-P.99

P.N. Chopra, B.N. Puri, M.N. Das.

श्रीमती आशारानीव्होरा के अनुसार "धर्म, राजनीतिक व समाज क्षेत्रों में अधिकार संपन्न पुरुषों की विलासी वृत्ति और निहित स्वार्थों के कारण अन्ततः ये स्त्रियों के लिए स्थायी बन्धन और समाज में स्त्री पुरुषों के लिए दुहरे नैतिक मूल्यों की सृष्टि कर गये ।"[1]

जब से समाज में स्त्री को नियमित रखना शुरू किया तब से उसका बहुमुखी शोषण होने लगा । विदेशी आक्रमणों से भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था को संतुलित करने के लिए कुछ तत्कालीन महात्माओं ने अनेक नैतिक नियमों का प्रचलन किया । सुरक्षा की दृष्टि से जो बन्धन स्त्री पर लागू किया गया वह बाद में स्त्री की रक्षा के लिए असमर्थ निकला और उससे उसको अनेक समस्याओं का सामना करना पडा । वह अनेक सामाजिक दुराचारों तथा पुरुष की स्वार्थताओं का गुलाम बन गयी । इन्हीं कारणों से स्त्री का स्थान सहधर्मिणी-सहकर्मी के स्तर से गिरने लगा ।

सामन्ती सभ्यता में यह अत्याचार इतना बढ गया कि इसका असर नारी जीवन के सभी पक्षों पर पडने लगा और वे पुरुष के अधीन हो गयी । स्त्री की शारीरिक सौकुमार्य को देखकर उसे भोग की वस्तु मानने की प्रवृत्ति मुख्य रूप में थी, उसके आन्तरिक सौंदर्य को अनदेखा कर दिया गया । श्रीमती महादेवी वर्मा ने पुरुष की इस मनोवृत्ति के बारे में लिखा है "उसने कहीं इस स्त्री को देवता की दासी बनाकर पवित्रता का स्वांग भरा,

---

1. नारी शोषण आइने और आयाम - पृ. 6

कहीं मन्दिर में नृत्य कराकर कला की दुहाई दी और कहीं केवल अपने मनोविनोद की वस्तु मात्र बनाकर अपने विचार में गुण-ग्राहकता ही दिखाई ।'[1]

आधुनिक युग में स्थितियाँ बदल गयी । स्वतंत्रता के बाद एकदम बदली हुई भारतीय परिस्थितियों ने स्त्री पुरुष के संबन्धों को भी बहुत प्रभावित किया । स्वतंत्रता संग्राम, और इसके लिए कार्यरत कुछ संस्थायें, भारत-पाक विभाजन, आबादी की समस्या, सहशिक्षा-नारी शिक्षा और तद्वारा शिक्षा के क्षेत्र में नारी की प्रगति, पाश्चात्य विचारधारा, नौकरी पेशा नारियों की आर्थिक स्वतंत्रता आदि ने भारतीय नारी के जीवन में कुछ नये अध्याय खोल दिये ।

स्वतंत्रता के बहुत पहले से ही अनेक समाज सुधारकों ने नारी मुक्ति के लिए कार्य करना शुरू कर दिया । तत्कालीन समाज में नारी के दिन व दिन बढते चले जानेवाले शोषण की प्रक्रिया को फैलने से रोकना तथा उनके जीवन को नया अर्थ देना उनका लक्ष्य रहा । ये लोग इस बात से अवगत थे कि नारी की मुक्ति और नारी की प्रगति तभी सही मायने में संभव हैं जब वह अपने पैरों पर खडी हो जाएगी ।

इन समाज सुधारकों में से सर्व प्रथम स्थान राजाराम मोहन राय को देना ही समीचीन होगा । उन्होंने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया ।

---

1. श्रृंखला की कडियाँ - पृ. 90 - महादेवी वर्मा

वे यह स्वीकार करते थे कि स्वावलंबी तथा स्वाधीन बनाने के लिए आत्म निर्भरता आवश्यक है जो शिक्षा द्वारा ही संभव है, और तभी वह पुरुष की दासता से मुक्त भी हो सकती है । नारी के समस्त शोषणों का कारण उसकी आर्थिक परतंत्रता और उसकी आत्मरक्षा का प्रश्न भी है जो उसकी आर्थिक समस्या पर निर्भर करता है ।

स्वतंत्रता संग्राम में नारी की हिस्सेदारी उनके जागरण का पहला कदम है । राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों के भाग लेने के कारण समाज में अपने व्यक्तित्व फैलाने का अवसर भी उन्हें प्राप्त हुआ । महात्मा गाँधी ने इस क्षेत्र में बडे योगदान दिया है । लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि "राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ साथ गाँधीजी ने जहाँ स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व प्रदान किया वहाँ नारी सुधार आन्दोलन की भी नींव डाली । यद्यपि आर्य समाज आन्दोलन पहले से ही इस दिशा में कार्यरत था, किन्तु गाँधीजी के आह्वान से इसमें अधिक सक्रियता आई और उसे एक निश्चित दिशा मिली ।"[1]

इस प्रकार स्वतंत्रता के पहले ही नारी की स्थिति में बदलाव आना शुरू हुआ । पर स्वतंत्रता के पश्चात् उसमें आश्चर्यपरक परिवर्तन लक्षित हुआ । स्वाधीनता के पश्चात् बनाये हुए संविधान में नारी के कल्याण

---

1. हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियाँ - पृ. 40 - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

को ध्यान में रखते हुए कई नियम पारित किये गये और उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त हुए । फलस्वरूप समाज में नारी को अनिवार्य समझी जानेवाली नैतिक मर्यादा, और संस्कारशील मान्यतायें एक प्रश्न चिह्न बन गयी । इसकी प्रतिक्रिया के रूप में असुरक्षा का बोध तथा व्यक्तिवादी चेतना उभरकर आने लगा ।

बाल विवाह का समाप्त होना, आवश्यकता होने पर तलाक का अधिकार आदि ने स्त्री को घोर गुलामी से मुक्ति प्रदान की । विवाहिता स्त्रियों की संपत्ति अधिनियम 1874 में पारित हुआ । इसमें पहला संशोधन 1929 में और दूसरा 1937 में हुआ । प्रमुख अधिनियम 1956 में बना इसके अनुसार विधवा को संपत्ति का अधिकार मिला और लडके के साथ लडकी को भी सह उत्तराधिकारी घोषित किया गया । लिंग के आधार पर व्यवसाय कराने तथा नौकरी के समस्त भेद संविधान द्वारा समाप्त हो गये हैं । पुरुष तथा स्त्री के वेतन में सैद्धांतिक रूप से कोई भेद नहीं किया गया इसलिए हर क्षेत्र में स्त्रियाँ आगे बढ रही हैं । कृषि के क्षेत्र में ही नहीं, उद्योग-धन्धे में भी आज वे शामिल हो रही हैं । सन् 1951 में जब वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया तो स्त्रियों को भी यह अधिकार मिला । 1952 तथा 1957 के आम चुनावों में उन्होंने भाग लिया । राजनैतिक क्षेत्र में किसी भी पद पर रहने का अधिकार भी उन्हें प्राप्त हुआ ।

सामाजिक दृष्टि से इस प्रकार के अनेक परिवर्तनों ने नारी जीवन को सुधारने में सक्रिय रहने पर भी बीच बीच में धर्म, राजनीति और

कभी कभी व्यक्तिगत स्वार्थ आदि शक्तियों ने उस पर गहरा आघात पहुँचाया है । जब कभी समाज में दंगे फसाद और संघर्ष सिर उठाते हैं तब आगजनी, कूटपाट और गोलीबारी के साथ साथ निरीह नारियों के इज़्ज़त आबरू लूटा जाता है । भारतीय विभाजन से संबंधित दंगे में भी नारी को ऐसी यंत्रणायें भोगनी पडी जिसका ठोस सबूत कृपलानी के इन शब्दों में है । "मैं कुछ उपद्रव पीडित भागों में हो आया हूँ । एक जगह मैं ने एक कुआँ देखा, जिसमें औरतों ने अपने बच्चों सहित कुल 107 प्राणी गिरकर अपनी इज़्ज़त बचायी थी । एक और स्थान पर एक मन्दिर में पुरुषों ने इसी कारण से अपनी 50 युवतियों को मार डाला । एक घर में मैं ने हड्डियों के ढेर देखे, जहाँ 307 व्यक्ति जिनमें ज़्यादातर स्त्रियाँ और बच्चे थे - आक्रमणकारी भीड के द्वारा खदेडकर बन्द कर दिए गए और फिर जिन्दा जला दिए गए । निस्सन्देह इन राक्षसी घटनाओं ने इस प्रश्न के बारे में मेरे दृष्टिकोण को प्रभावित किया है ।"[1] इस प्रकार विभाजन की त्रासदी ने नारी जीवन में असुरक्षा एवं अकुलाहट प्रदान की थी ।

नारीशिक्षा व्यापक रूप में नहीं हो पाने के कारण भी अनपढ़ नारियों को सोचने समझने की मानसिकता नहीं रहता । स्वतंत्रता की एक लंबी अवधि के बावजूद भी भारत में केरल जैसे कुछ इने गिने राज्यों को छोडकर अन्य राज्यों में अनपढ़ नारियों की संख्या बढती जा रही है और उनकी यह अशिक्षा शोषण का मुख्य कारण बनता है । अन्ध श्रद्धा के कारण

---

1. धर्मयुग - 21 फरवरी 1988 - पृ. 19 - सं. गणेश मंत्री
   लेख - उस रोज़ विभाजन के प्रस्ताव को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया ।

वह पुरुष के प्रति आवाज़ नहीं उठाती और परंपरा के तन्तुओं में जकडे रहने के लिए मज़बूर भी हो जाती है ।

सैद्धांतिक रूप से उन्नति एवं समानता का दर्जा प्राप्त करने पर भी समाज आज भी उसका अनादर करता रहता है । सृष्ट को, परिवार को और समाज को बनाये रखने में उसकी जो महत्वपूर्ण भूमिका है उसको अनदेखा करते हुए हर कहीं वह हाशिये में धकेल दी जाती है । उसकी हैसियत क्या है इसके बारे में कोई नहीं पूछता और कोई फिक्र नहीं करता । इसलिए अपने व्यक्तित्व को एक नये आयाम देने की उसकी कोशिश हमेशा सफल नहीं निकलती है ।

आज शिक्षा, वैधानिक समानता, अपेक्षाकृत ऊँची सामाजिक स्थिति आदि पाकर भी स्त्रियों की इज़्ज़त सुरक्षित नहीं है । धार्मिक रूढिवादी तत्व उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को अस्वीकार ही करता है । घर के भीतर और बाहर उसे दबाव ही भोगना पडता है । राजनीति धर्म और नौकरशाही के चंगुल में बुरी तरह वह फँसती है । मौजूदा व्यवस्था में पुरुषवर्ग की कामुकता से भी उसे मुक्ति नहीं मिलती । अतः कह सकते हैं कि वह व्यक्तिगत व सामूहिक बलात्कार के रूप में अत्याचार का शिकार बनती जा रही है, तो इसके पीछे सामन्ती सभ्यता का पुनः पनपने का खतरा स्पष्ट दिखाई देता है । वर्तमान युग की नारी शिक्षित है, स्वतंत्र है, लेकिन बेटी और पत्नी के रूप में पुरुष के अधीन सुरक्षित रूप में ही वह समाज में

आदरणीय है । अकेली रहकर अपनी प्रतिभा, बुद्धि, योग्यता आदि अर्जित गुणों से समाज-सेवा करेगी तो उसे समाज की भोंडी मान्यता मात्र मिलेगी, असली इज़्ज़त नहीं मिलेगी, क्योंकि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परंपरा से जो रूढिवादी विचारधारायें मौजूद है उससे मुक्ति पाना आसान नहीं । प्रमिला दंडवते ने अपने एक लेख में ऐसा कहा है कि "अनेकानेक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक कारणों से हमारे देश में स्त्री के व्यक्तित्व के विकास पर पाबन्दियाँ लगी हुई हैं । उन्हीं संस्कारों के फलस्वरूप आज भी जब औरत पढ-लिखकर विज्ञान, साहित्य, शिक्षा, राजनीति आदि क्षेत्रों में आगे बढ चुकी है, उसके चरित्र के संबंध में हमारी नैतिकता और सिद्धांत वही घिसी पिटे हैं ।"[1]

पुरुष अपनी स्वार्थता और अहम् की पूर्ति के लिए स्त्री के अस्तित्व बोध को उभरने नहीं देता है और उसका दमन और शोषण करता रहता है । जिस प्रकार धर्म और सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री को चित्रित किया है उस दृष्टि से भिन्न रूप में पुरुष स्त्री को नहीं आंकना चाहता । मृणाल पाण्डे के शब्दों में "लगभग सभी धार्मिक दायरों में स्त्री को पुरुष के संदर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में देखा गया है ।"[2] इसलिए पुरुष स्त्री को अबला कहकर उसकी चेतना को विकृत कर देता है । वह स्त्री को अपनी संपत्ति मानता है, क्योंकि उसके मन में यह धारणा है कि स्त्री का आश्रय और उसका रक्षक केवल पुरुष ही है । वह स्त्री को केवल

---

1. मुक्ता मई (त्रैमासिक) 1980 में प्रकाशित "भारतीय राजनीति में महिलायें : कितनी कारगर" लेख - पृ. 25
2. देह की राजनीति से देश की राजनीति तक - पृ. 14

भोग और विलासिता की चीज़ मात्र समझता है । इन कारणों से उसकी दासता और अधीनता में रहकर स्त्री अपनी दक्षता को खो रही है और उसकी प्रगति के सारे मार्ग अवरुद्ध हो रहे हैं । पुरुष सत्तात्मक समाज और रूढिवादी धर्म दोनों स्त्री को एक दूसरे दर्जे का मानकर उन्हें कई बन्धनों में बाँधते हैं । परिस्थितियों के बदलने पर भी नारी के प्रति पुरुष एवं समाज का दृष्टिकोण पुराने ज़माने की तरह ही है ।

अपमानित एवं शोषित नारी वर्ग की ओर संवेदनशील लेखकों की दृष्टि समय समय पर गयी है । ये रचनाकार नारी की इस दयनीय स्थिति को याने स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच अपने अस्तित्व को भी खोकर पुरुष के हाथों कुचली जानेवाली नारी को इतिहास और पुराण के ऐसे कुछ क्षणों के सहारे प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं । इससे उन लेखकों का मकसद, आज भी भिन्न भिन्न रूपों में पुरुष या पुरुष सत्ता के हाथों अपने जीवन भर में दुख भोगनेवाली नारी के जीवन का चित्रण है ।

पुरुष की महत्वाकांक्षा एवं अहम् की वृत्ति की शिकार बननेवाली नारियों और उनकी मनोभावनाओं को प्रस्तुत करनेवाले प्रमुख नाटक है भीष्म साहनी का "माधवी", शंकर शेष का "कोमल गाँधार", भरतभूषण अग्रवाल का "आग्नलीक", सर्वदानन्द का "भूमिजा" मोहन राकेश का "आषाढ़ का एक दिन" और सुरेन्द्र वर्मा का "सेतुबंध" आदि ।

पुरुष की महत्वाकांक्षा एवं अहम् की वृत्ति :

महत्वाकांक्षी पुरुष हमेशा मात्र अपने को चाहता है । उसका एकमात्र लक्ष्य अपनी लक्ष्यपूर्ति और तद्वारा अहम् की तुष्टि है । इसके लिए यह कभी-कभी नारी के त्याग और दुर्बलता से लाभ उठाता है । धर्म और समाज ने इसके पोषण करने के लिए नियमों को लागू किया है । इस प्रकार कहा जाता है कि पुरुष की सभी विजयों के पीछे एक स्त्री का योगदान अवश्य रहता है, लेकिन स्वार्थी पुरुष अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए नारी को एक माध्यम समझता है और लक्ष्य तक पहुँचने के बाद वह उसके लिए कुछ भी न बन जाती है । स्त्री को केवल उपेक्षा या निन्दा ही मिलती है । अपनी उन्नति के मार्ग में पुरुष अधर्म या अनीति को अपनाने के लिए नहीं हिचकता, क्योंकि विजय ही उसका उद्देश्य रह जाता है । भीष्म साहनी के नाटक "माधवी" में राजा ययाति, मुनिकुमार मालव और गुरु विश्वामित्र तीनों पुरुषों ने यश, विजय तथा साधनापूर्ति के मार्ग में आगे बढा । लेकिन उनके पैरों के नीचे कुचली हुई माधवी को समझने का प्रयत्न किसी ने भी नहीं किया क्योंकि उनके लिए वह लक्ष्यपूर्ति का एक निमित्त मात्र था ।

ययाति से माधवी का संबन्ध पिता और पुत्री का है । लेकिन ययाति ने अपनी कीर्ति को कायम रखने के लिए उसे दान में दिया । पिता के इच्छानुसार उसके प्रति अपने कर्तव्य निभाने के लिए माधवी को एक अपरिचित युवक के साथ जाना पडता है । राजा ययाति का लक्ष्य अपने अहम् की तुष्टि मात्र है । इसलिए उसने अपनी इकलौती बेटी के मन

देखने का प्रयास नहीं किया और न उसके भविष्य को । राजपाट छोडकर सन्यासी होकर आश्रम जीवन बिताते समय भी राजा ययाति अपने यश को बचाये रखने में अधिक इच्छुक है । वह जानता है कि अब तक उसने अपनी सामर्थ्य से बढकर दानकर्म दिया है और यदि अब वह धर्म से हट जाए तो दानवीर के रूप में उसे प्राप्त कीर्ति कलंकित हो जाएगी । वह यह नहीं चाहता कि वह दूसरों की दया या सहताप का पात्र बन जाय । इस कारण से माधव की बातें सुनकर उसका सामन्तीय दंभ जाग उठता है और वह सोचता है "अब अभ्यर्थी भी मुझपर दया करने लगे हैं । उन्हें मुझसे निराशा होने लगी है । अब ययाति दानवीर, उदारमना नहीं, एक क्षुद्र साधारण जीव कहलायेगा । कर्ण दानवीर हैं, युधिष्ठिर उदात्तमना है, हरिश्चन्द्र सत्यवती हैं, पर ययाति ...."[1]

ययाति को मालूम है कि आठ सौ अश्वमेधी घोडा प्राप्त करना आसान कार्य नहीं है । यदि वह राजसिंहासन पर थे तो भी यह दान देना असंभव था । लेकिन वह अपने यश में कलंक लगाना नहीं चाहता है । इसलिए वह अपनी गुणवती पुत्री को दान में देकर कर्ण, युधिष्ठिर जैसे वीरों की पंक्ति में अपने नाम को भी सम्मिलित करने में अधिक उत्सुक हो गया । वह चाहता है कि पुत्री को दान में देने से उसका यश देश देश में फैलेगा और यश की इस लालसा में पडकर ययाति पुत्री के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाता है और दान देने की चीज़ मानकर उसे अनिश्चय के गर्त में झोंक देता है ।

---

1. माधवी - पृ.17 - भीष्म साहनी

माधवी के हर्यश्च की पटरानी बनने और उसे पुत्रलाभ होने की वार्ता सुननकर ययाति अपनी दानवीरता से पुलकित हो जाता है । उसके मन का उल्लास इन शब्दों में मुखरित हैं "लोग यह भी कहते होंगे कि राज-पाट त्यागने के बाद भी दानवीर ययाति ने अपना हाथ नहीं खींचा, क्यों ? क्या अभी भी दानी राजा कर्ण से मेरी तुलना की जाती है या राजा कर्ण को लोग भूल गये हैं ।"[1] वह यह भी जानता है कि माधवी एक शर्त के अनुसार एक वर्ष के लिए अयोध्या की रानी बनी है, जिसके बदले गालव को दो सौ अश्वमेधी घोडे मिलेंगे और बाकी घोडे प्राप्त करने के लिए उसे और भी राजाओं के रनिवास में रहना पडेगा । माधवी को इस दुरवस्था से बचाने के लिए मारीच ययाति को यह उपदेश देता है कि वह गुरु विश्वामित्र से शेष घोडे का आग्रह छोडने के लिए विनती करें । लेकिन ययाति इसकेलिए सहमत नहीं होता है । वह नहीं चाहता कि अपनी पुत्रि के सुख की कामना से प्रेरित होकर वह विश्वामित्र के सामने याचना करे और कर्म से गिरकर स्वयं अपकीर्ति का हेतु बन जाय । वह दान में दी गई चीज़ के भविष्य के बारे में सोचना उचित नहीं समझता है । क्योंकि उसकी राय में "जो दान में दिया जा चुका है, उसके बारे में सोचना अथवा चिन्ता करना एक दानी को शोभा नहीं देता, इसका अर्थ है उसके दान में स्वार्थ का खोट मिला हुआ है । लोग कहेंगे कि ययाति अपनी एकमात्र पुत्री के मोह में फंसकर विश्वामित्र के सामने गिडगिडाने गया है ..... मारीच..... माधवी इस आश्रम से जा चुकी है ।"[2]

---

1. माधवी - पृ. 42 - भीष्म साहनी
2. माधवी - पृ. 44 - भीष्म साहनी

धर्म और कर्म के नाम पर ययाति ने जो कुछ किया उसके पीछे यश की कामना अधिक उभरती है, पुत्री की ममता से बढकर यश ही ययाति के लिए अधिक प्यारा है । माधवी को उन्होंने दान दिया फिर भी उसका सामन्तीय दंभ उसे यह आशा देता है कि यदि माधवी महारानी नहीं बन पायी तो आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ राजा ययाति उसका स्वयंवर रचायेगा और समस्त आर्यावर्त जान लेगा कि राज-पाट छोडने पर भी ययाति हर बातों में आगे हैं । इन आशाओं के पीछे मात्र उसकी दंभवृत्ति झलकती है, उसमें माधवी की सुरक्षा या मान्यता के लिए कोई स्थान नहीं ।

कर्म, धर्म और यश के नाम पर एक पिता ने पुत्री को दान दिया तो मुनिकुमार गालव ने उस दान में मिली चीज़ को अपनी लक्ष्यपूर्ति के निमित्त ही समझा । वह आठ सौ अश्वमेधी घोडे के बदले गुणवती माधवी को देकर अपने को ऋणमुक्त बनाना चाहता है । चक्रवर्ती राजा को जन्म देने की जो क्षमता माधवी में है वह गालव को दुविधाग्रस्त बनाती है । "चक्रवर्ती । चक्रवर्ती राजा को जन्म देगी । माधवी जिसे जन्म देगी वह चक्रवर्ती राजा बनेगा । ऐसा ही कहा महाराज ने । क्या माधवी के गर्भ से पैदा होनेवाला गालव का पुत्र भी चक्रवर्ती राजा हो सकता है ।"[1] गालव माधवी को खो देना भी नहीं चाहता फिर भी माधवी को प्रेम, निष्ठा, समर्पण इन सबसे बढकर वह अपने कर्तव्य पालन को अधिक महत्व देता है । एक ओर गुरू के प्रति दायित्व निभाना, दूसरी ओर भविष्य की शुभकामना दोनों दृष्टि से गालव के लिए माधवी एक निमित्त मात्र है । गालव के

---

1. माधवी - पृ. 22 - भीष्म साहनी

अहम् की भावना ऋणमुक्त होने के लिए उसे गुरु के सामने क्षमा याचना करने से उसे पीछे की ओर खींचता है । गालव अभिज्ञ है कि अपनी हठधर्मिता के कारण ही गुरु ने ऐसी एक दक्षिणा माँगी है फिर भी धर्म से वह विचलित होना नहीं चाहता । इसी गालव एक निरीह नारी की ज़िन्दगी को उसके ऋण चुकाने का माध्यम बनाने के लिए हिचकता नहीं है । एक एक वर्ष राजमहलों में रहकर और हर एक बार अपने बच्चे को छोडकर गालव के पास लौटनेवाली माधवी के हृदय को कभी भी समझने की कोशिश गालव नहीं करता है । वह हमेशा गुरुदक्षिणा इकट्ठा करने की देरी में चिन्तित रहता है । अन्त में गालव को ऋणमुक्त करने के लिए उसके गुरु के आश्रम में भी रहने के लिए तैयार हुई माधवी उससे उपेक्षित हो जाती है । वह माधवी की कुरूपता को पाना नहीं चाहता है

माधवी के माध्यम से राजा ययाति दानवीर बन गया, गालव को दीक्षा प्राप्त हुई, गुरु विश्वामित्र भी अपने हठ पर विजयी हुआ । माधवी गालव को पाना चाहती है, यह जानकर भी गुरु विश्वामित्र ने उसे छोडकर गालव को ऋणमुक्ति नहीं दी । विश्वामित्र ने अश्वमेधी घोडों पर एकाधिकार प्राप्त करना चाहा उसे वह भी प्राप्त हुआ । लेकिन तीनों पुरुषों की कर्तव्य परायणता एवं अहम् की तुष्टि में माधवी को अपनी ज़िन्दगी को स्वाहा करना पडा ।

पुरुष की महत्वाकांक्षा और नारी पर होनेवाले अत्याचार को रामायण की पृष्ठभूमि पर चित्रित करने का प्रयास भरत भूषण अग्रवाल ने

"अग्निलीक" नाटक में किया है । रामकथा में जो पावनता है उस पावनत्व की ओट में छिपाकर सीता की व्यथा अनदेखी की गयी । राम का यश तीनों लोकों में गूँजता है वह पिता की भाँति प्रजा का पालन करनेवाला और भाई की तरह प्रेम करनेवाला है । राम सदैव न्याय के रक्षक और धर्म के अवतार रहा । लेकिन अपने शासन, नीति, न्याय, स्नेह, धर्म, दया आदि के लिए उसकी पत्नी सीता की उपेक्षा की गयी । नारी के प्रति नर की यह उपेक्षा सार्वकालिक है । "रामायण तथा राम कथा से संबंधित सभी ग्रंथों में लेखकों ने राम के त्याग, महिमा, मर्यादा और आदर्शप्रियता तथा सीता के महासतीत्व की यशोगाथा को स्वर्णाक्षरों से सजाया है, किन्तु इस गौरव-गरिमा के पीछे सिसकते सीता के हृदय और मूक व्यथा को किसी ने स्वर नहीं दिया । सीता के त्याग और आत्मोत्सर्ग के लिए राम और सीता देवत्व के धरातल पर बलपूर्वक आसीन कर दिए गए, उन्हें मनुष्य के रूप में देखने का कभी प्रयत्न ही नहीं हुआ ।"[1]

अग्निलीक नाटक में महत्वाकांक्षी महाराज राम ने अपने मार्ग में बाधा के रूप में आनेवाली पत्नी सीता को त्याग कर इतिहास में अपने स्थान को सुरक्षित एवं उच्च बनाना चाहा । राम के सामने मात्र अपने यश और राज्य की मर्यादा ही कौंधती है । इसलिए जब एक अज्ञानी धोबी ने सीता को कलंकिनी घोषित किया तब राम ने आँखें मूँदकर उस किंवदन्ति

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में - पृ. 145 - डा. सीता कुमार

पर विश्वास किया । उन्होंने यह जानने का प्रयास नहीं किया कि यह किंवदन्ति एक मूर्ख व्यक्ति की जल्पना है या पूरे अयोध्यावासी की । दर असल धोबी को छोडकर किसी भी प्रजा में सीता के चरित्र के संबंध में तनिक भी अविश्वास नहीं था । राम ने अपनी प्रेयसी को राज्य से निष्कासित करके नीति को बना रखा । राम स्वयं स्वीकार करते हैं :-

"देवी तुम धन्य हो
जब यह अधम राम राजाधिराज बनकर
अपनी पत्नी से, प्रजा से, सन्तति से
और अपनी भूमि के जीवन से मुँह मोडकर
चाटुकारों से भरे एक संकीर्ण वृत्त में
यशोगान सुनने में व्यस्त था ।"[1]

सत्ता के मोह में पडकर राम ने सीता को छोड दिया लेकिन वह इस बात को भूल गया था तब सीता ने उसका साथ दिया था । राज्य से निष्कासित होने पर सीता का एकमात्र दुख इस बात को लेकर ही है कि वह राम के मन से ही निष्कासित हो गयी है न कि यह दुख रानी पद को छोडने का या बन्धु बान्धवों को छोडने का । जंगल में पहुँचकर लक्ष्मण से सीता का यह कथन इस बात को स्पष्ट करता है ।

"अयोध्या पहुँचकर अपने महाराज से कह देना
बनोवास देते समय इतना तो सोचते
कि जब उन्हें बनोवास मिला था

---

1. अग्निलीक - पृ. 63 - भारत भूषण अग्रवाल

तब मैं उनके साथ गयी थी ।
पर नहीं
तब हम पति-पत्नी थे,
हमारा धर्म एक था ।
अब वे महाराज है,
और मैं उनकी प्रजा हूँ
इसलिए यह बात उचित नहीं होगी
तुम बस इतना ही कह देना
आज्ञा शिरोधार्य है ।'[1]

सीता समझती है कि राम अब महाराज है । अपनी पत्नी के प्रति उसका जो दायित्व है उसे पूरा करें तो उसका लोकनायक पद नष्ट हो जाएगा । राम ने जनता के इच्छानुसार सीता परित्याग नहीं किया, इस हीन फैसले के पीछे जो विकार रहा वह केवल यशलिप्सा ही है । रथवान के शब्दों से राम की इस नीति के प्रति अयोध्या की प्रजा ही असन्तुष्टि व्यक्त होती है । अयोध्या की जनता को देवी सीता के प्रति आदर एवं सम्मान ही है । राजकुटुम्ब का कोई व्यक्ति भी इस फैसले का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं था । इसलिए सारी प्रजाओं की इच्छा के विरुद्ध राम ने जो कर्म किया वह कभी भी नीतिपरक नहीं होगा । रथवान अयोध्या की प्रजा का प्रतीक है और राम की इस नीति को केवल एक भूल मानने को वह तैयार नहीं होता है।

---

1. अग्निलीक - पृ. 14 - भारत भूषण अग्रवाल

"भूल
नहीं, वह भूल नहीं थी
सब कुछ उजागर था
जब उन्होंने दुर्मुख की बात मानकर
अपनी अर्धांगिनी को त्यागा था
तब क्या वे नहीं जानते थे
कि वे क्या कर रहे हैं ?
पर नहीं,
उन्हें तो अपना खोया राज्य पाना था ।
जिसके लिए वे चौदह बरसों तक जंगलों में भटके थे
वह अब आँखों के आगे था ।
भूल का नहीं दया निधान
उन्होंने राज्य का मोल चुकाया है ।"[1]

राम के आचरणों से रघवान को यह आभास होता है कि राम ने कभी भी प्रजा के चैन या सुख के लिए काम नहीं किया । पहले राम वन चला गया तो भरत वैरागी बन गया । बाद में सीता वन गयी तो राम वैरागी बन गया । अयोध्या की प्रजा ने कभी सुख नहीं भोगा । जिसने पहले सत्य को बनाये रखने के लिए राज्य को ठुकरा दिया उसने ही अब राज्य के लिए सत्य को ठुकराने का काम किया । इसलिए हमेशा इसकी करनी में केवल स्वार्थ लिप्सा ही उभरती हुई दिखाई पडती है ।

---

1. अग्निलीक - पृ. 16 - भारत भूषण अग्रवाल

राम दिग्विजय के अभियान में जब वाल्मीकी के आश्रम पहुँचता है तो सीता को ऐसा लगता है कि अश्वमेध यज्ञ राम की युद्धलिप्सा हो है । राम का सीता से उसके साथ लौट जाने का और एक बार फिर अश्वमेध यज्ञ के लिए एकत्र ऋषियों, साधुओं, पण्डितों और राजपुरुषों तथा प्रजाजनों के सामने अपनी पवित्रता सिद्ध करने का सुझाव सीता को रोषाकुल बनाता है । सीता के अनुसार अयोध्या के राजपरिवार में हमेशा प्रेम के बदले राज्य माँगने की प्रथा चलती है । दशरथ ने अपनी रानी के कहने के अनुसार उत्तराधिकार का नियम तोड दिया । लंका में सीता से मिलते हुए हनुमान के इन शब्दों से सीता को यही स्पष्ट हो गया था कि राम अपनी प्रिया की रक्षा से भी अधिक विजय की धुन को चाहता है ।

"वे सेना तैयार कर रहे हैं
लंका पर चढाई होगी
रावण का समूल नाश किया जाएगा
और तब राम विजय श्री के साथ आप से मिलेंगे ।"[1]

रावण से युद्ध करके विजयी बनने के बाद मिलन की वेला में भी उन्होंने ऐसा आचरण किया था कि सीता उसके लिए एक सस्ती चीज़ ही है ।

"जब हनुमान मुझे लेकर
विजय वीर के पास पहुँचा
तो इन्होंने मुझे गले लगना तो दूर

---

1. अग्निलीक - पृ. 48 - भरत भूषण अग्रवाल

मेरी दशा भी न पूछनी चाही
महत्वाकांक्षा से भरी आँखें
दूर क्षितिज पर गड़ते हुए
राजसी भंगिमा में बोले
तुम्हें अग्नि को साक्षी बनाकर वचन देना होगा
कि तुम पवित्र हो ।"[1]

रघुकुल के मान के लिए सीता ने अग्निप्रवेश किया था । तब सीता ने सोचा कि यह तो राम का ही नहीं समाज का प्रश्न है लेकिन बाद में उसने समझ लिया कि वह सब दिखावा था । राम के मन में कभी प्यार के लिए स्थान नहीं था । यदि होता तो वह ज़रूर राजा के समान दण्ड देता है और प्रेमी के समान उसके साथ वन चले आता । राम का लक्ष्य हमेशा प्रजा को अपनी महिमा का प्रमाण देना था और उसके लिए सीता एक निमित्त बन गयी । जीवन के स्नेह और संबंधों को उन्होंने महत्वाकांक्षा के मार्ग में अनदेखा कर दिया । सीता को ऐसा महसूस होता है कि शायद अब भी राम उससे प्रसन्न हो गये होंगे क्योंकि अपने विख्यात वंश को लव कुश नामक उत्तराधिकारी मिले हैं । राम की यशलिप्सा की लालसा सीता के इन शब्दों में मुखरित है ।

"महत्वाकांक्षा
आसागरा धरा को अपनी बाँहों में भर लेने की इच्छा,

---

1. अग्निलीक - पृ. 48 - भारतभूषण अग्रवाल

रघुवंश में अपनी कीर्ति सबसे ऊँची करने की लालसा,
जिसके आगे सारे नेह-नाते
सारे जीवन सुख
सारी धर्म-प्रतिज्ञायें
इन्हें थोथी जान पड़ती है ।"[1]

कर्तव्य के नाम पर निरीह नारी के प्रति उपेक्षा एवं अत्याचार करनेवाले राम के कर्मों के पीछे महत्वाकांक्षी व्यक्तित्व ही झलकता है । सिद्धनाथ कुमार का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि "राम के चरित्र और कार्यों की मूल प्रेरक शक्ति के रूप में महत्वाकांक्षा को रखकर भरतभूषण अग्रवाल ने जिस व्याख्या का संकेत किया है, वह रामात्यक धरातल पर प्रतिष्ठित है और अविश्वसनीय नहीं लगता ।"[2]

सर्वदानन्द ने "भूमिजा" नामक नाटक में भी रामकथा के आधार पर नारी पर आज भी हावी होनेवाले पुरुष के अत्याचार एवं अविश्वास का एक चिर पुरातन उदाहरण दिया है । नारी का पुरुष पर विश्वास और बदले में पुरुष द्वारा नारी पर अविश्वास यह स्थिति समाज में होती रहती है । इस परंपरा की शायद सबसे पहली कड़ी होगी राम और सीता की कथा ।

---

1. अग्निलीक - पृ. 50-51 - भारत भूषण अग्रवाल
2. हिन्दी पद्य नाटक : सिद्धांत और इतिहास - पृ. 112

महाराजा राम जनश्रुति को मानकर अपनी पत्नी सीता को वन भेजने के लिए तैयार होता है । गर्भवती सीता अपराधी नहीं होने पर भी राम उस पर अन्याय करने से नहीं हिचकता है । अपने आदर्शात्मक शासन को उज्ज्वल बनाना राम का लक्ष्य था । इसके अलावा राजा बनते वक्त कुलगुरू वसिष्ठ को जो वचन उन्होंने दिया था उसका भी पालन और सभी नेह नातों से परे राम को मान्य था । वसिष्ठ से उन्होंने प्रजा की सेवा केलिए अपने हृदय की ममता, दया, क्षमा सबकुछ त्याग करने की प्रतिज्ञा की थी । इसलिए अपने प्राणों से प्रिय जानकी को बिना किसी अपराध के बलि देने का साहस उन्होंने केवल धर्म समझा ।

अयोध्या की प्रजा और राजकुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति सीता परित्याग को स्वीकारनेवाला नहीं था । लेकिन अपने धर्म, नीति और शासन को पराकाष्ठा पहुँचाने के लिए राम ने यह कूटनीति अपनाई । राजदूत दुर्मुख को स्वयं राम ने ही प्रजाहित जानने के लिए भेजा था । जब एक अज्ञानी धोबी ने सीता को कलंकिनी घोषित किया तो राम ने आँखें मूँदकर उस किंवदन्ति पर विश्वास किया । उन्होंने यह जानने का प्रयास न किया कि यह किंवदन्ति एक मूर्ख व्यक्ति की जल्पना है या पूरे अयोध्यावासी की । दर असल धोबी को छोडकर किसी भी प्रजा में सीता के चरित्र के संबंध में तनिक भी अविश्वास नहीं था । लेकिन राम अपनी महानता को चुनौती देना नहीं चाहा । सीता का परित्याग पूरी प्रजा की इच्छा के विरुद्ध होते हुए भी उस कर्म से अपने कर्तव्य अपरिमेय बनाता है ।

"जनता की आलोचना राम के लिए उपेक्षा की वस्तु नहीं है । सीता का परित्याग राम के लिए असाध्य है । किन्तु कायर बनकर राम उससे विमुख हो जाय, यह भी तो उनकी मर्यादा का अपमान होगा, नहीं दुर्मुख, तुमने राम के कर्तव्य को जगाया है, वह तुम्हारा ऋणी है !.... सीता जा रही है, राम का मनुष्यत्व चिरनिद्रा में सोने जा रहा है किन्तु उसके कर्तव्य की ज्योतिशिखा अमन्द जलती रहेगी ।"[1]

एक निर्दोषी नारी को दण्ड देना राजकुटुम्ब के सभी सदस्यों ने अनीति ही समझा । लक्ष्मण की राय में गर्भवती सीता को असहाय अवस्था में तपोवन भेजना निष्ठुरता ही है । लेकिन उस निष्ठुरता को ही राम कर्तव्य बनाता है । उनकी राय में व्यवस्था हमेशा निष्ठुर ही होती है । आँसुओं के मार्ग पर शासन चल नहीं सकता । जिसप्रकार देवाधिदेव शंकर ने विष का पान किया उसी प्रकार इस कठोरता का भी उसने निर्विकार भाव से सामना करके अपने नाम को अमरत्व प्रदान किया ।

नारी पर पुरुष ऐसा एक गुण पहले ही आरोपित करता रहा कि वह भूमि के समान है और जिसप्रकार पृथ्वी सर्वंसहा होती है उसी प्रकार नारी पर भी सब कुछ झेलने की विशेष शक्ति होती है । राम ने सीता को भी इस गुण विशेषता से संपन्न माना । स्त्री की इसी शक्ति

---

1. भूमिजा - पृ. 34 - सर्वदानन्द

विशेष का लाभ उठाकर राम ने अपनी पत्नी को कटु दण्ड देने में तनिक भी संकोच न किया । राम को मालूम हैं कि रावण द्वारा अपहरण के बाद सीता ने अग्निप्रवेश किया था और अपनी पवित्रता को उसने दुहाई दी थी । सीता के मन में जो पवित्रता है क्षमा है उससे राम ने अपने मार्ग को निष्कंटक बनाया । नर के प्रति नारी का जो आत्मसमर्पण है उसका राम ने ज़रूर लाभ उठाया । उसके इन शब्दों में यह स्पष्ट उभरता है । "यह विष सहज भाव से पीने का बल तुम्हीं तो दोगी, मेरे हृदय की शक्ति ! मेरी प्रेरणा, जीवनसंगिनी, तुम्हीं तो राम को राम बनाओगी ! बोलो राम की हृदयेश्वरी, राम अपने कर्तव्य पथ से विमुख हो जाय ? यश के गौरव शिखर से उसका अधःपतन तुम्हें सहन होगा ? गुरु वसिष्ठ को दिया हुआ अपना वचन वह लौटा ले, यही तुम चाहती हो ? बोलो..... बोलो सीते !"[1]

राम इस बात से अवगत है कि सीता कभी भी उसके लक्ष्य के मार्ग में बाधा बनेगी । नारी के हृदय की व्यथा को वह अनदेखा करता है । शायद वह समझता होगा कि उसके यश के जयघोष में सीता का आत्मोत्सर्ग मिट जायेंगे । लेकिन नारी को इस करुणापरक स्थिति लक्ष्मण से ऊर्मिला के इन शब्दों में मुखरित होती है । वह राम की इस नीति पर प्रश्न चिह्न लगाती है । "ऊर्मिला : दुर्मुख की लगाई हुई यह आग अयोध्या को भस्म कर डालेगी स्वामी ! प्रजा के एक साधारण जन के कहने पर राजरानी का परित्याग भविष्य का इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा । नर की मर्यादा नारी के इस बलिदान से गौरव के शिखर पर नहीं चढेगी । हम नारी है, सहने के लिए

---

1. भूमिजा - पृ. 42 - सर्वदानन्द

ही हमारा जन्म हुआ है । आप पुरुष है, जेठ जी भी पुरुष है । आप लोगों को अपनी मर्यादा प्यारी है, राजकाज देखना है, अपने वंश का मुख उज्ज्वल रखना है और हमारा काम है आप के झूठे, थोथे मान को पुचकारते रहना ।"[1]

राम के भाई तथा माता कौशल्या राम को अपना हठ छोडने की प्रार्थना करते हैं । लेकिन प्रजा की इच्छा के बल पर राम अपनी प्रतिज्ञा में अटल रहना उचित समझता है । फिर भी सीता के वनगमन के समय क्षण भर के लिए दुविधा में पडकर राम अपना फैसला वापस लेने का आदेश देता है तो सीता का चोट खाया व्यक्तित्व इस प्रकार फुत्कारता है । सीता सहानुभूति की भीख मिलना कभी नहीं चाहती और उसका एक शब्द राम की झूठी महत्वाकांक्षा पर कठोर प्रहार है ।

सीता : ठहरो लक्ष्मण ! प्रजा ने सम्मिलित स्वर में मेरे परित्याग की माँग नहीं की थी । (राम के पास जाकर) कर्तव्य के ऊँचे शिखर से यह अधपतन मर्यादापुरुष रामचन्द्र को शोभा नहीं देते । सीता के कारण तुम्हारी यह दुविधा अनुचित है स्वामी । सीता को क्या इतना अधम समझते हो ? तुम्हारे यश और मर्यादा के लिए सीता इतना सा बलिदान भी नहीं कर सकती ? तुम्हारा उज्ज्वल जीवन सदा गौरव से वन्दनीय रहेगा । राम की मर्यादा का इतिहास सीता के कारण कलंकित नहीं होगा । मलिन न हो । तुम्हारे पुण्य का सत्य जगत् के लिए आदर्श होगा । राम की पूजा घर घर में होगी और उसके साथ ही मूल्य पायेगा मेरा मौन आत्मोत्सर्ग ! यही सीता का परिचय होगा ।"[2]

---

1. भूमिजा - पृ. 27 - सर्वदानन्द
2. भूमिजा - पृ. 52 - सर्वदानन्द

राजनीति की तुला पर दर असल नारी तौली जाती है । ज़िन्दगी भर उसने विश्वास ही अपने पति को दिया था बदले में उसे अविश्वास ही मिला था । राम के साथ अयोध्या लौट आने की उनकी प्रार्थना इसलिए वह ठुकराती है क्योंकि उसे डर है कि पति की मर्यादा लिप्सा की बलिवेदी पर पुनः एक बार उसके व्यक्तित्व और नारीत्व की कुर्बानी हो जाएगी । अनाथिनी और अभागा बनाकर तिरस्कार की गयी नारी की सन्तानों को वह पति को सौंप देती है और राम के साथ अयोध्या जाने से इनकार करती है । सीता का यह निर्णय नर के अन्याय एवं अवसरवादिता को एक चुनौती है । उसके इस कथन में इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है ।

"सीता : नहीं ऐसा नहीं होगा महाराज ! कर्तव्य प्रेम से पराजित नहीं होगा महाराज ! कर्तव्य प्रेम से पराजित नहीं होगा । मर्यादा पुरुषोत्तम राम स्त्री के स्नेहपाश में बन्द कर प्रजा की उपेक्षा करेंगे ? सूर्यवंश का इतिहास नारी के रक्त से लिखा जाएगा और वह नारी होगी सीता । वह दिन भूल गये महाराज ? नर के मर्यादा की रक्षा के लिए जिस दिन राजा रामचन्द्र ने माँ के आँसुओं की शपथ को ठुकरा दिया था ? स्त्री के समर्पण की ओर से आँखें बन्द कर ली थी ? वहाँ राजा है वही प्रजा है और वही मर्यादा की लिप्सा है । वही मानव का अहम् है । दया-माया-ममता तुम्हारे लिए खेल हैं देवता । वह अभागों का अभिशाप है । शक्तिहीनों का सम्बल है । सब ओर से समर्थ राम उस सम्बल के अधिकारी नहीं ।"[1]

राम को सदा स्वर्ण सिंहासन मिलने के लिए सीता की बलि दी गयी । यहाँ पुरुष के शतरंज के खेल में नारी सिर्फ एक मोहर बन जाती है ।

---

1. भूमिजा - पृ. 86 - सर्वदानन्द

भूमिजा नाटक के संबंध में डा. रीता कुमार का कथन सही लगता है "सर्वदानन्द के नाटक की यही प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने सीता के परित्याग को महिमा में न जकड कर एक नारी के व्यथा, तिरस्कार के विरोध और अधिकार के प्रश्न को मुखरित किया । एक पुरुष की यश-लिप्सा के औचित्य पर प्रश्न चिह्न लगाया है, जो अपनी महानता सुरक्षित रखने के लिए अपनी स्त्री को निरपराध होने पर भी दण्ड दे सकता है, पर अत्याचार और प्रजा की पाशविक वृत्तियों से उसे बचाने के लिए साहस से खडा नहीं हो सकता । यहीं पर आकर यह नाटक देश काल की सीमा लांघकर पुरुष के शोषणपूर्ण अधिकारों पर नारी के भग्न हृदय का प्रश्नचिह्न लगाता है ।"[1]

सुरेन्द्र वर्मा के ऐतिहासिक नाटक "सेतुबन्ध" में भी पुरुष की महत्वाकांक्षा की तृष्णा और नारी के सपनों को अपने लक्ष्यसिद्धि के लिए कुचलने की रीति को प्रस्तुत किया है । नाटक में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती और राजकवि कालिदास के बीच का प्रणय संबंध, महत्वाकांक्षी पिता के कारण उस प्रणय संबंध का भग्न होना , वाकाटक नरेश के साथ प्रभावती की शादी संपन्न होना, वर्षों के बीत जाने पर प्रभावती और वाकाटक के पुत्र प्रवरसेन को इस पुराने प्रणय संबंध का पता मिलना, पुत्र के सामने इस संबंध को स्वीकारते हुए, नर नारी के मात्र जिस्मों के मिलन को शादी के रूप में स्वीकारने की मान्यता को चुनौती देना आदि नाटक की प्रमुख घटनायें हैं ।

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के संदर्भ में - पृ. 160 - डा. रीता कुमार

गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपनी वीरता-शूरता और साहस के नाम पर इतिहास के पन्नों पर विशिष्ट स्थान प्राप्त किया । चन्द्रगुप्त वीर पराक्रमी थे लेकिन कहीं कहीं वीरता से प्राप्त कर सकनेवाले कार्यों को आसानी से प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी पुत्री की भावनाओं को अनदेखा कर दिया । प्रभावती नारी है इसलिए उस पर इसी प्रकार के अत्याचार करने में पिता चन्द्रगुप्त नहीं हिचकता ।

चन्द्रगुप्त गुप्त राज्य की विस्तृति के उद्देश्य से आसपास के देशों को पराजित कर अपने राज्य से मिलाता रहा । राज्य की विस्तृति से बढकर अपने को दिग्विजयी का पद हासिल करना ही उसका लक्ष्य था । वह अच्छी तरह जानता था कि अपने राज दरबार के श्रेष्ठ कवि कालिदास और अपनी पुत्री प्रभावती के बीच प्रणय संबंध है । चन्द्रगुप्त ने कवि कालिदास पर अपनी पुत्री की शिक्षा का दायित्व सौंप दिया था । लेकिन उसको ऐसे एक मामला का सामना करना पडा, जहाँ एक ओर अपने यश का प्रश्न था और दूसरी ओर पुत्री का प्रेम संबंध । ऐसी एक अवस्था में चन्द्रगुप्त ने पुत्री को उसके दायित्व के नाम पर और कभी कभी भविष्य की आपातशंकाओं के बारे में अवगत कराकर अपने मार्ग के काँटों को हटा दिया ।

बेटी के मन की भावनाओं या कोमल कल्पनाओं को समझना उनके लिए ज़रूरी नहीं था । वह जानता था कि अपनी पुत्री के लिए जिस व्यक्ति को दामाद के रूप में चुना गया वह उसके लिए अनुरूप नहीं है ।

लेकिन दामाद के गुण गणों से भी बढकर उसकी दृष्टि भविष्य में उस नये रिश्ते से होनेवाली राज्य विस्तृति पर टिकी थी । प्रभावती के सुकोमल व्यक्तित्व उसके पिता ने नकारात्मक समझा । प्रवरसेन के शब्दों से यह झलकता है कि उनके पिता, माता के लिए अनुरूप नहीं थे । उन दोनों के व्यक्तित्व कहीं भी मिलने जुलनेवाले नहीं थे । "मैं बहुत छोटा था जब पिता का निधन हुआ। उनकी कोई स्मृति नहीं है लेकिन वे जैसे भी रहे हो, निश्चय ही माँ के अनुरूप नहीं होंगे ।..... माँ का सुकुमार व्यक्तित्व माँ का मधुर स्वभाव माँ के कलात्मक संस्कार, माँ की परिष्कृत रुचियाँ यह सबका आसानी से कहीं देखने को मिलता है ?"[1]

सम्राट चन्द्रगुप्त की मंशा यह रहा कि उसका साम्राज्य सबसे बडा हो, उसमें शांति हो, सबकुछ हो और उसका नाम इतिहास में अजय्यता का पर्याय बनें । उसके मन में एक ही बात अखरती रही कि दिग्विजय के घोडे को अपने मार्ग में कोई बाधा न उत्पन्न हो । इसलिए अपनी पुत्री को वाकाटक नरेश को देकर वह दुहरे लाभ की प्रतीक्षा करता है जैसे वाकाटक का गुप्त साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र में आना और साथ ही साथ शकों का वाकाटक नरेश के प्रभाव में आ जाना । इन कार्यों की पूर्ति से चन्द्रगुप्त अपने लक्ष्य तक पहुँचा जाएगा । जनता सन्तुष्ट होगा और उनके आनन्द राज्य को कल्याणकारी सिद्ध होगा । चन्द्रगुप्त के इन शब्दों में उसके दिल के महत्वाकांक्षा की धुन झलकता है । "दिग्विजय पूरी होने के बाद एक देश में एक सम्राट का

---

1. तीन नाटक - पृ. 16 - सुरेन्द्र वर्मा

एकछत्र शासन होगा । जो समय, साधन और शक्ति आपसी युद्धों में बेकार जा रही है, जन कल्याण में लगेगी । शान्ति और सद्भावना के वातावरण में साहित्य और कला की उपलब्धियाँ गगनचुम्बी ऊँचाइयों को छू लेंगी और सभ्यता तथा संस्कृति को गुप्तयुग की अमूल्य देन सहस्रों शताब्दियों तक याद की जाएगी ।"[1]

जो पिता अपनी पुत्री की आशा आकांक्षाओं को कोई मूल्य नहीं देता वही उस राजकन्या को अपने साम्राज्य के प्रति दायित्व की याद दिलाता है । चन्द्रगुप्त प्रभावती को इस बात से अवगत करता है कि वह गुप्तवंश की राजदुहिता है और इसलिए राजवंश की कीर्ति के लिए उनका भी योगदान ज़रूरी है । गुप्तवंश का रक्त उसके नस नस में है और प्रभावती को अपने कुल के प्रति दायित्व निभाना ही है । बेटी को अपने हठ से छुडाने के लिए चन्द्रगुप्त शासन की क्रूरता का चित्र भी उसे देता है । सत्ता के हाथ सशक्त हैं बिना कारण के वह निरपराधी को सजा दे सकती है । अपने सुविधानुसार नीति और न्याय को बदलने में वह तनिक भी संकोच नहीं करता । उसके इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि कालिदास को भविष्य में हो सकनेवाले अत्याचारों से अवगत कराकर प्रभावती के मन को विचलित करना चन्द्रगुप्त का उद्देश्य है । "आज जो आश्रयदाता उदार और कृपालु है वह कल कठोर और दण्डविधायक भी हो सकता है । क्या प्रभावती यह चाहेंगी जिस का यश और जिसकी कीर्ति अँधेरी कोठरी में एडियाँ रगड-रगडकर मरे ? केवल इसीलिए

---

1. तीन नाटक - पृ. 21 - सुरेन्द्र वर्मा

कि प्रेम अन्धा था । उसने अपनी बौनी बाहों में आकाश को बाँध लेना चाहता था ।[1] अपनी वाक्चतुरता से किसी न किसी प्रकार प्रभावती के मन को विचलित करना चन्द्रगुप्त का लक्ष्य रहा और तद्वारा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति ।

सत्ता को बनाये रखने के लिए राजनीति ने हर युग में कूटनीति को अपनाया है । यदि उसे बनाये रखने का एक मार्ग अबला नारी है तो वह सुविधा से अपना काम कर सकता है । प्राचीनकाल से ही औरत को दौलत के समान एक आत्मविहीन व्यक्तित्व के रूप में आंका गया और समाज के लिए वह मात्र सुखभोग की एक साधन थी । चाहे वृद्धावस्था में साथ देने के लिए हो या रोगग्रस्त राजकुमारों के संतत सहचारी बनने के लिए और कभी मात्र पुत्रप्राप्ति के उद्देश्य से उसका सौदा और अपहरण होता था और हो रहा है ।

समाज में नारी का क्रय विक्रय अन्य वस्तुओं के समान होता ही है । कभी कभी पिता उसे बेचता है और कभी पति उसे खरीदता है । उत्तर भारत में आज भी युवतियों को बेचना आचरण की बात नहीं है । निम्नवर्ग के लोग शादी के बहाने अपनी लडकियों को बूढों को बेचते हैं इससे उन्हें दुहरा लाभ मिलता है । एक ओर दहेज के बोझ से माता पिता मुक्त

---

1. तीन नाटक - पृ. 33 - सुरेन्द्र वर्मा

हो जाते हैं और दूसरी ओर इस बिक्री से उन्हें मुँहमाँगा पुरस्कार भी मिलता है ।

पुराण के पन्नों में अभिशप्त नारी के क्रयविक्रय की काफी मिसाल उपलब्ध है । शन्तनु ने अपनी वृद्धावस्था में सत्यवती को ढूँढ लिया । भीष्म अपने कुल को सन्तानहीन होकर नष्ट भ्रष्ट होने से बचने के लिए अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को लूटकर लाया । गान्धारी, कुन्ती और माद्री भी इसी तरह वंशोत्पत्ति के लिए वधू बनायी गयी । सत्ता चाहे पिता हो, भाई हो या पति हो वह नारी के मन को कोई मूल्य नहीं देता और उसे अनदेखा करके उसकी सहमति असहमति को बेमतलब बनाते हैं । नियोग द्वारा पुत्रप्राप्ति की प्रथा भी नारीत्व के प्रति अवहेलना का प्रमाण है ।

शंकर शेष ने " कोमल गाँधार" नाटक में राजनीति की शिकार बनी गाँधारी का चित्र खींचा है । गान्धार नरेश और भीष्म दोनों के लिए गान्धारी राजनैतिक समझौते का आधार मात्र थी न आशा और आकांक्षा से भरी एक अविवाहिता राजकुमारी । धोखे से उसे गान्धार से हस्तिनापुर ले चला गया । पिता होने पर जो उत्तरदायित्व पुत्री के प्रति गान्धार नरेश को रहा वह भुला गया क्योंकि अपने राज्य एवं अधिकार के प्रति उनका मोह अधिक था । हरेक अविवाहित राजकन्या की तरह उसको भी सपने थे लेकिन सहसा बिना किसी हलचल या उत्सव से उसको गान्धार से बाहर लिया गया । उसके भग्न स्वप्न इस कथन से व्यक्त होता है । "प्रश्न वह नहीं

संजय ! दूसरी राजकन्याओं की तरह मेरा भी एक सपना था ..... कि वह बिजली की तरह मचलते हुए सफेद अश्व पर आयेगा अपनी भुजाओं से झुका देगा आकाश ..... लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ, उल्टे मैं ही डोली में बिठाकर ले जायी जा रही हूँ । ऐसा क्यों ?[1] गान्धारी अपने स्वयंवर में एक काल्पनिक व्यक्तित्व को अपनाना चाहती थी लेकिन अपने पति के बारे में बिना कुछ विवरण से उसे गान्धार से ले गया था ।

राजनीति की महत्वाकांक्षा के चक्कर में पडकर गाँधार नरेश एक पिता के कर्तव्य को भूल जाता है । गान्धार नरेश को मालूम है कि हस्तिनापुर जैसी एक शक्ति के सामने गान्धार जैसा एक छोटा राज्य भीष्म की बातों को टालने का दुस्साहस कभी नहीं दिखाएगा । संपत्ति एवं वैभव के बदले अपनी कन्या को बेचनेवाला पिता तथा अन्धे राजकुमार केलिए कन्या को खरीदनेवाला भीष्म दोनों राजनीति की आड में नारी के प्रति अन्याय करनेवाले पुरुष नज़र आते हैं । एक अन्धे व्यक्ति के लिए एक निरीह नारी की अस्मिता को हडपने का एक ही कारण यही था कि कुरुवंश के मान की रक्षा । उसने यही चाहा कि अपने वंश की कडियाँ न टूट जाय तथा एक दासी पुत्र कभी हस्तिनापुर के उत्तराधिकारी के रूप में न आये । भीष्म ने कन्या को खरीदते हुए तथा उसे हस्तिनापुर के अन्धे राजकुमार की वधू बनाते हुए उसके साथ षड्यंत्र किया । कुरुवंश के मान और कुरुवंश की परंपरा खंडित न होने के लिए अन्धे धृतराष्ट्र ने भी इसका साथ दिया । भीष्म कुरुवंश के

---

1. कोमल गाँधार - पृ. 17 - शंकर शेष

उत्तरदायित्व का बोझ इसलिए उठाता है कि वह मानता है उसके शपथ के कारण माता सत्यवती ने एक बूढे राजा से शादी की । वह अपराध बोध भीष्म को सदा सताता रहता है । उनके इन शब्दों में यह बात उभर आती है । "प्रतिज्ञा की माँग उसने नहीं ..... उसके बाप ने की थी संजय । अगर मैं प्रतिज्ञा न करता तो वह एक कामासक्त बूढे के गले में बन्धने से बच जाती । अपराधी वह नहीं मैं हूँ । मैं ।"[1] अपनी करनियों के कारण अपने वंश के प्रति उत्तरदायित्व की भावना अधिक रही । इसलिए हस्तिनापुर के अन्धे राजकुमार धृतराष्ट्र को दो विश्वसनीय आँखों तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए राजरक्त बहनेवाले शरीर आवश्यक था । भीष्म समझता है कि हस्तिनापुर के धन, वैभव, सुख आदि के सामने धृतराष्ट्र के अन्धेपन को गान्धारी भुला देगी । "गान्धारी ज़रूर धृतराष्ट्र को संभाल लेगी । राजमाता बनने का सुख बहुत बडा होता है । संजय ! धृतराष्ट्र का अन्धापन जल्दी भुला देगी ।"[2]

गान्धारी जब इस बात से अवगत होती है कि उसके होनेवाला पति अन्धा है तो वह टूट जाती है । अपने भविष्य के सुनहरे स्वप्न तथा जीवन के कोमल गाँधार उसे नष्ट हो जाते हैं । अपने अधिकारों से वंचित करानेवाली नीति के प्रति उसका आक्रोश इस कथन में व्यक्त है । "मेरी सहमति का कोई अर्थ नहीं है क्या ? क्यों नकार दिया गया मेरे अस्तित्व को पूरी तरह ! राजनीति इतनी क्रूर होती है क्या ? अब समझ में आ रहा है भीष्म के शब्दों का अर्थ । भीष्म ने न केवल षड्यंत्र रचा,

---

1. कोमल गाँधार - पृ. 22 - शंकर शेष
2. कोमल गाँधार - पृ.24 - शंकर शेष

उसे आखिर तक निबाहने की तैयारी भी की । राजभक्त से जन्म एक जिस्म से ज़्यादा कुछ नहीं माना गया । मुझे, क्यों ?[1]

एक स्त्री होने के नाते उसके ऊपर अन्याय करने का जो अधिकार पुरुष पर रहा उसी भावना ने षड्यंत्र रचाकर एक नारी की कोमल भावनाओं को कुचल दिया । औरत के साथ बेइनसाफी करते हुए अपने अहम् की पूर्ति करनेवाले मर्द की स्वार्थलिप्सा "जगदीश चन्द्र माथुर" कृत शारदीया में भी उभर आती है । शर्जेराव घाटगे अपनी पुत्री बायजबाई के अरमानों को जलाकर किसी न किसी प्रकार खोए हुए अधिकार, पद एवं संपत्ति को पुनः लेना चाहता है । शर्जेराव घाटगे का गाँव उससे छीन लिया गया था और उसे इसका प्रतिशोध करना था । उसकी बेटी बायजाबाई जो मातृविहीन है शरद्पूर्णिमा के समान सुन्दर थी । शारदोत्सव के अवसर पर उसे देखकर सिन्धिया महाराज मुग्ध हो जाता है । यह मुग्धता शर्जेराव के लिए अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति का राह बन गया ।

शर्जेराव इस तथ्य से वाकिफ़ है कि अपनी पुत्री बायजाबाई और नरसिंह राव के बीच प्रणय संबंध है । नरसिंह राव भी कागल के निवासी हैं और वे दोनों बचपन से एक दूसरे को जाननेवाले हैं । लेकिन सिन्धिया महाराज का अपनी पुत्री के प्रति आकर्षण शर्जेराव को कट्टर बनने के लिए

---

1. कोमल गाँधार - पृ. 36 - शंकर शेष

विवश करता है । क्योंकि महाराज की यह मुग्धता शर्जेराव को अपने लक्ष्यपूर्ति को सुगम एवं सुचारू बनायेगा । शर्जेराव की पत्नी ने मरने से पहले ऐसा एक वायदा किया था कि बायजाबाई और नरसिंहराव की शादी हो जाय । लेकिन अपनी पत्नी की उस वायदे को निरर्थक मानता है । पुत्री के लिए वर चुनने का अधिकार वह स्वयं लेता है क्योंकि नरसिंहराव से अधिक पूँजीवाले एक वर शर्जेराव के लिए आवश्यक था । महत्वाकांक्षा से अन्धा बना उसका व्यक्तित्व उसके इन शब्दों में स्पष्ट निकलता ही है ।

"किसका वायदा ? कैसा वायदा ? मैं नहीं जानता, तेरी माँ ने क्या वायदा किया था ? मैं इतना जानता हूँ कि तुझे मेरी आज्ञा माननी है, माननी होगी । नादान लडकी ! तेरे पिता की महत्वाकांक्षा कागल पर ही नहीं रुकेगी । उस महत्वाकांक्षा के यज्ञ को पूरा करने के लिए अगर तेरी आहुति की ज़रूरत हो तो भी मैं नहीं झिझकूँगा ।"[1]

मरने के लिए कटिबद्ध पुत्री से शर्जेराव यों कहता है कि वह उसके मरण की आहुति नहीं लेकिन जीवन की आहुति चाहता है । क्योंकि बेटी के सौंदर्य से उसे अपना काम चलाना था । उसे पुत्री के भविष्य के सुख और सन्तोष से कोई मतलब नहीं था ।

अपने लक्ष्य के राह में बाधा निकलनेवाले व्यक्ति को निर्दयतापूर्वक दण्ड दिलवाने में शर्जेराव नहीं हिचकता । नरसिंहराव के प्रति

---

1. शारदीया - पृ.17 - जगदीशचन्द्र माथुर

वह कुतंत्र चलाता है । महाराज सिंधिया से अपनी बेटी की शादी संपन्न होने से पहले ही वह धन-दौलत, पद सबकुछ वसूल करता है । हैदराबाद के निज़ाम और मराठों के बीच जो युद्ध चलता है उसमें हिन्दू मुसलमानों के बीच के वैमनस्य को दूर करते हुए एकता लाने की कोशिश नरसिंहराव करता है लेकिन शर्जेराव अपनी साजिश से सिन्धिया को नरसिंह देव के विरुद्ध भटकाता है और उसका कान भर देता है कि नरसिंहराव देश द्रोही है और इसी अपराध में उसे ग्वालियर के किले में बन्द कर देते हैं ।

शर्जेराव ने एक ओर नरसिंहराव को कारागर देकर अपना मार्ग निष्कंटक बना दिया और दूसरी ओर बायजाबाई से झूठ बोलकर उसे अपने सुझाव के अनुसार चलने योग्य बना दिया है । सिन्धिया के साथ शादी के लिए बेटी को राज़ी करने के लिए वह यह झूठ बोलता है कि खर्दा की लडाई में नरसिंहराव की मृत्यु हो गयी है । पुत्री के अरमानों की समाधि करके उसने कागल को वापस छीन लिया और दीवान पद भी प्राप्त किया है । महत्वाकांक्षा की आग में शर्जेराव ने अपनी पुत्री को जला दिया है ।

अपने पिता की असलियत से बयजाबाई अन्त में भली भांति अवगत हो जाती है । पिता की कभी भी न घटनेवाली महत्वाकांक्षा को वह अपने इस कथन द्वारा व्यक्त करती है । "हमेशा भडकनेवाली आकांक्षा का सर्प ! उसी की फुंकार के शिकार तुम बने, नरासंह और मैं भी ।"[1]

---

1. शारदीया - पृ. 36 - जगदीशचन्द्र माथुर

नाटक में शर्जेराव ऐसे एक पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी महत्वाकांक्षा की कोई सीमा न रही । नारी जीवन को अपनी इच्छा के मुताबिक बनानेवाला शर्जेराव नारी की आशा आकांक्षा को कुचलकर मात्र लक्ष्य पूर्ति के लिए उसे एक साधन माननेवाला व्यक्तित्व को अपने में समाहित करता है ।

नारी का समर्पण भाव :-

नारी में जो समर्पण भाव है समाज में उसका शोषण ही होता रहता है । स्त्री अपने प्रेमी के लिए सब कुछ खोने को तैयार होती है, लेकिन पुरुष उसके त्याग, प्रेम और समर्पण भाव को उसकी दुर्बलता ही समझता है । स्त्री अपने प्रेमी को सबकुछ मानते हैं, वह प्रेमी के दुःख को अपना दुःख समझती है और इसके बदले वह मात्र अपने व्यक्तित्व की पहचान ही चाहती है । "वह अपना पुण्य, अपना सौंदर्य अपना शरीर अपना हृदय अर्थात अपना सर्वस्व तक प्रदान करने के लिए तत्पर है, पर इसके एवज़ में वह भी कुछ चाहती है । वह चाहती है केवल इतना कि अपने व्यक्तित्व का अस्तित्व स्वीकार किया जाय ।"[1] अधिकतर पुरुष स्त्री के व्यक्तित्व को अनदेखा करते हैं, उसको नाचीज़ समझते हैं, यहाँ तक कि उसके व्यक्तित्व को अपने पैरों तले कुचला भी देते हैं ।

स्त्री में जो अर्पण-बोध तथा त्याग है वह अन्य किसी जीव में नहीं है । नारी के इस गुण को स्पष्ट करते हुए महादेवी वर्मा ने लिखा

---

1. बन्दी की चेतना - पृ. 148 - कमलापति त्रिपाठी

है "पुरुष का जीवन संघर्ष से आरंभ होता है और नारी का आत्म-समर्पण से ।"[1] कहा जा सकता है कि यह उसका दैविक गुण है । लेकिन यह नहीं कह सकता कि उन दैविक गुणों से युक्त नारी में अभिलाषायें नहीं है । पुरुष के जीवन में स्त्री की आशाओं तथा मनोभावों के लिए कोई स्थान नहीं है । वह स्त्री को केवल भोग की वस्तु मानता है । इससे हमेशा यही अपेक्षा रखता है कि वह उसकी हर आज्ञा का पालन चुपचाप करती रहे । बच्चों को पैदा करनेवाला एक पुर्जा और विलासिता एवं मनोरंजन की एक चीज़ से बढकर पुरुष की दृष्टि में स्त्री का अन्य कोई महत्व है ही नहीं । कभी त्याग के नाम पर देवी पद देकर उसे माँ पुकारता है, लेकिन कैसे भी हो स्त्री का रास्ता सदा दुःख के काँटों से भरा रहता है ।

भीष्म साहनी के नाटक "माधवी" में धर्मनिष्ठ पिता माधवी को दान में देता है, क्योंकि वह जानता है कि माधवी अपने पिता के प्रति अपना कर्तव्य अवश्य निभायेगी । अपनी कर्तव्यपूर्ति के लिए वह मुनिकुमार गालव के साथ निकलती है । अपने जीवन में आये युवक गालव को बचाने के लिए किसी भी कार्य करने के लिए वह उद्यत होती है । माधवी अपनी स्थिति से बिलकुल अवगत है, इसलिए वह कहती है कि वह आज गालव के लिए एक निमित्त मात्र है और कल किसी राजा के लिए । गालव के आश्रम में आये हुए उसी दिन माधवी ने जो सपना देखा था उस सपने के युवक को वह गालव में देखता है । इस कारण वह गालव से प्रेम करती है और उससे कहती है "तुम मेरा भाग्य बनकर आये हो गालव ।"[2]

---

1. श्रृंखला की कडियाँ - पृ. 13 - महादेवी वर्मा
2. माधवी - पृ. 26 - भीष्म साहनी

गालव को ऋणमुक्त बनाकर उसे स्वतंत्र कराने की इच्छा से माधवी उसके गुरू विश्वामित्र के पास जाकर क्षमायाचना करने को कहती है । जब गालव इसके लिए सहमत नहीं होता है तो वह स्वयं विश्वामित्र के पास जाकर गालव के लिए क्षमा माँगने को भी तैयार होती है, लेकिन गालव उसकी बातों को अनसुना करता है । गालव का लक्ष्य माधवी को पाने की अपेक्षा उसके गुणों का उपयोग करके गुरूदक्षिणा प्राप्त करना है । उसके लिए माधवी केवल ऋण चुकाने का माध्यम मात्र है । इसलिए माधवी के मन में जो कुछ है उसे समझने का प्रयास कभी गालव नहीं करता है । माधवी के मन में जो आग्रह है वह उत्तराखण्ड की ओर निकलते वक्त उसके इन शब्दों में उभर आता है । "उत्तराखण्ड की ओर हम लंबे-से-लंबे मार्ग से जायेंगे, ताकि हम अधिक समय तक एक दूसरे के साथ रह सकें । वनों पर्वतों को तुम्हारे संग लांघते हुए मुझे अच्छा लगेगा ।"[1]

अयोध्या के राजा हर्यश्व के दरबार में माधवी के लक्षणों के जाँच के द्वारा उसका अपमान ही हो जाता है । दरबार में राजा, मंत्री, गालव और अन्य दरबारी लोगों के सामने उसका नारीत्व तिल-तिलकर मरता है । राज ज्योतिषी एक छडी के द्वारा निर्देश करते हुए उसके विभिन्न अंगों का लक्षण और गुण बताता है । उसके अनुसार जिस युवती की पीठ सीधी हो, कपोल तथा नेत्रों के कोने ऊँचे हो, स्तन युगल तथा नितम्ब उभर को उठे हो, कमर पतली और केश, दान्त, हाथ, पैर की ऊँगलियाँ कोमल हो,

---

1. माधवी - पृ. 22 - भीष्म साहनी

कण्ठ कठोर स्वर गंभीर हो, नाभि गहरी हो, स्वभाव स्थिर और तालू, जीभ तथा होंठ लाल हो, उसमें चक्रवर्ती राजा को जन्म देने की क्षमता होगी । माधवी के इन सभी लक्षणों को राजज्योतिषी ने गिनगिनकर प्रस्तुत किया तो माधवी अपने को समा नहीं सकती और वह दम तोडकर गालव से पूछती है "यह क्या हो रहा है गालव । तुम मुझे कहाँ ले आये हो । मेरे साथ किस जन्म का वैर चुकाने आए हो, मैं ने कौन सा ऐसा पाप किया था, जिसका यह फल मुझे मिल रहा है ।"[1] लेकिन अपमानित होने पर भी उस राजा के पास रहने के लिए वह सहमति प्रकट करती है ।

माधवी के मन में गालव के प्रति जो प्रेम और समर्पण भाव है वही उसे अपने बच्चे को छोडकर गालव के पास जाने के लिए विवश करता है । वह गालव को अपना भाग्य एवं नियति समझती है । गालव से उसका प्रेम इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है "प्रसूति के समय मैं बडी व्याकुल थी । दर्द से छटपटा रही थी । पर मैं सहसा शान्त हो गयी । मैं ने मन में कहा यदि गालव से मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ होता तो क्या मैं इतनी रोती चिल्लाती ? तब तो मैं सारी पीडा हँसते-हँसते सहन कर लेती ।"[2] माधवी अपनी जीवन की विडम्बनाओं को प्रेम का परीक्षा मानती है । एक ओर गालव सबकुछ अपनी ऋणमुक्ति के लिए कर रहा है और दूसरी ओर माधवी सबकुछ अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिए ।

---

1. माधवी - पृ. 32 - भीष्म साहनी
2. माधवी - पृ. 57-58 - भीष्म साहनी

पूरे अश्वमेधी घोडे इकट्ठा न कर सकने के कारण गालव हताश बन जाता है । उसे आत्महत्या से बचाने के लिए माधवी स्वयं गुरू विश्वामित्र के पास पहुँचती है । वो विश्वामित्र से अपने को आश्रम में रखने की याचना करती है । विश्वामित्र से कहे हुए इन शब्दों में गालव के प्रति उसकी श्रद्धा और प्रेम झलकता है "गालव ने गुरू-दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है उसकी प्रतिज्ञा मेरी प्रतिज्ञा है महाराज ।"[1]

गुरूदक्षिणा देने के दायित्व से मुक्त होकर एक वर्ष बाद, माधवी से मिलने के लिए तडपते हुए आये गालव के मन के विचारों से यह स्पष्ट होता है कि इतने साल उसके प्रण की पूर्ति का माध्यम बनी माधवी के हृदय से वह अनभिज्ञ ही है । स्वयंवर के कुछ समय पहले वह इस आशंका में पडता है कि माधवी उसे वरण करेगी या और किसी राजा को वरण करेगी । लेकिन आशंका में पडा गालव माधवी को देखकर ठिठक जाता है । माधवी जो अब एक ढले हुए देह, लावण्यहीन चेहरा, झुर्रियाँ भरे मुँह और आँखों के नीचे अँधेरे साये अधेड उम्र की स्त्री है । उसे देखकर गालव चौंकता है । माधवी के अभिप्राय में अब वे दोनों स्वतंत्र हैं और अब वह गालव के साथ जंगलों में घूमेगी और फिर पहले जैसे हो जाएगी । माधवी का प्रेम सब सीमाओं से परे है, इसलिए वह अनुष्ठान करके युवती बनकर गालव के साथ जाना नहीं चाहती है । वह अपने असली रूप में गालव को पाना चाहती है, जिसमें उदात्त प्रेम भावना निहित है ।

---

1. माधवी - पृ. 81 - भीष्म साहनी

अपने गुरू की पत्नी रह चुकने के कारण माधवी को स्वीकारने में स्वार्थी गालव इनकार करता है । अब तो वह नैतिक नियमों का उल्लंघन करना नहीं चाहता है । वास्तव में गुरू की पत्नी से विवाह न करने का उसका निश्चय एक बहाना था, दर असल माधवी का ढला हुआ यौवन उसे खलता है । अपने लक्ष्य तक पहुँचने के बाद कर्तव्य का उपासक गालव सौंदर्य का उपासक बन जाता है ।

माधवी उसके प्रेमी से छला गयी । वह गालव से कहती है "मैं तुम्हारे लिए केवल निमित्त मात्र थी । जब तुम मेरे सामने अनुनय विनय कर रहे थे तब भी तुम झूठ बोल रहे थे । तुमने केवल एक ही व्यक्ति से प्रेम किया है और वह अपने आप से । पर मैं तुम्हें पहचानते हुए भी नहीं पहचान पायी । मैं सारा वक्त यही समझती रही कि गालव साहसी, साधना और निष्ठावाला व्यक्ति है ।"[1] माधवी की समर्पण भावना ने उसे अपने यौवन की आहुति देकर गालव को गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए प्रेरणा दी ।

मोहन राकेश के "आषाढ का एक दिन" नाटक में भी नारी के प्रेम और समर्पण भावना का दृष्टांत मौजूद है । नाटक में कालिदास के प्रति मल्लिका का अनन्य प्रेम अथ से इति तक उभरकर आता है । इस प्रेम भावना ही कालिदास के रचनात्मक व्यक्तित्व की मूल शक्ति है । जब

---

1. माधवी - पृ. 94 - भीष्म साहनी

कालिदास इससे वंचित हो जाता है तो उसे ऐसा महसूस होता है कि वह अपनी जड़ों से अलग हो गया है ।

मल्लिका बचपन से ही कालिदास की संगिनी रही । उसकी कोमलता, आर्द्रता और भावना सबकुछ कालिदास को प्रेरणा बन गयी । कालिदा के प्रति मल्लिका इतनी समर्पित रही कि जीवन के अन्य सारे संबंधों को वह नगण्य मानती है । वह कालिदास की भावना में डूबकर संतोष पाती है । उसके लिए यह प्रेम संबंध आषाढ की वर्षा के समान है जिसमें तन और मन को भिगोकर वह आनन्द का अनुभव करती है । कालिदास के साथ बितानेवाले हर एक क्षण में उसे अपने को खोने का आभास होता है । कालिदास की भावना के साथ उसके भावात्मक संबंध को मल्लिका इस प्रकार व्यक्त करती है । "मैं आज वे क्षण कभी नहीं भूल सकती । सौंदर्य का ऐसा साक्षात्कार मैं ने कभी नहीं किया । जैसे वह अस्पृश्य होते हुए भी सांसल हो । मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पा सकती थी ।"[1]

मल्लिका का कालिदास से जो संबंध है उससे कुछ लूटना नहीं चाहती है । सांसारिक इच्छा आकांक्षा से ऊपर जो अलौकिक सुख उसे प्राप्त होता है उससे वह संतृप्त है । उसकी इस वाणी से यही झलकता है कि कालिदास से उसका संबंध मात्र भावात्मक तल की एक स्थिति ही है ।

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 8 - मोहन राकेश

"मैं ने भावना में भावना का वरण किया है । मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बडा है । मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है ।"[1]

मल्लिका स्वार्थतावश अपने प्रेमी के संवेदनशील व्यक्तित्व को आघात पहुँचाना नहीं चाहती । अपनी भलाई चाहनेवाली माँ और सगे संबंधियों की बातें इसलिए वह ठुकराती हैं । माँ के सम्मुख विवाह नहीं करने का प्रस्ताव वह करती है । कालिदास और उसके संबंध के बारे में जो लोकापवाद है उससे भी वह डरता नहीं । कालिदास को सन्देह एवं घृणा की दृष्टि से देखने की माँ की प्रवृत्ति भी मल्लिका को सह्य नहीं है ।

निस्वार्थ प्रेम की उपासिका मल्लिका, कालिदास को राजकवि का आसन प्राप्त करने के लिए उसे उज्जयिनी भेजने में अधिक उत्सुक है । अपने ग्रामप्रान्तर एवं मल्लिका से बिछुडना कालिदास असंभव समझता था लेकिन अपने प्रेमी की उन्नति का इच्छुक होने की वजह मल्लिका उसे उज्जयिनी जाने के लिए विवश करती है । अपने भविष्य से अधिक कालिदास के भविष्य से मल्लिका अधिक अनुप्राणित है । उसके इन शब्दों में यह बात उभर आती है । "नयी भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक संपन्न और उर्वरा मिलेगी । इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे, कर चुके हो । तुम्हें आज नयी भूमि की आवश्यकता है जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे ।"[2]

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ. 8 - मोहन राकेश
2. आषाढ का एक दिन - पृ. 45 - मोहन राकेश

मल्लिका के शुभचिन्तक के रूप में कालिदास से कटु बोलनेवाला विलोम को घर से बाहर निकालने के लिए भी वह नहीं हिचकती । मल्लिका अन्तर्मन से यही चाहती है कि कालिदास उज्जयिनी जाए और राजकवि का आसन ग्रहण करे लेकिन विछुडन मल्लिका पीडाजनक को सताता हा है । विदाई के समय उसकी पीडा उनके तत्सम में व्यक्त है । "देखना मैं तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी, बहुत घूमूँगी और हर सन्ध्या को जगदम्बा के मन्दिर में सूर्यास्त देखने जाया करूँगी ।"[1]

कालिदास के विदा होने के बाद भी मल्लिका अपनी इच्छा एवं आकांक्षा को बनाये रखने में सफल रही । समय के बीतने पर भी उसके मन की भावनाओं को कोई ह्रास नहीं हुआ । कभी कभी वर्षा में भीगकर और उसके लिए अप्राप्य कालिदास के नये ग्रंथों को उज्जयिनी से आनेवाले व्यापारियों द्वारा खरीदकर वह मन की भावुकता की रक्षा करती है ।

अपने प्रेमी के प्रति ईमानदार होने के कारण मल्लिका अन्य कोई संबंध स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होती है । प्रियंगुमंजरी ने जब राज्य के अधिकारी के साथ उसकी शादी करवाने का सुझाव रख दिया तो मल्लिका उसका तिरस्कार करती है । यहाँ तक कि अपने उजडे हुए घर के पारसंस्कार के लिए भी वह तैयार नहीं होती क्योंकि उस घर और

---

1. आषाढ का एक दिन - पृ.47 - मोहन राकेश

उस वातावरण में वह कालिदास के प्रति अपनी भावना का संबंध अनुभव करती है । वह मात्र अपनी भावना के आश्रय में जीना चाहती है । लेकिन समय उसके साथ घोर अन्याय करता है । मन की भावनाओं को सुरक्षित रखने में सफल निकलने पर भी वह जीवन की आवश्यकताओं के सामने अपने सुरक्षित रखने में असफल निकलती है । उसका यह वक्तव्य इसका प्रमाण है ।

"जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी कितनी आकृतियाँ है ।"[1]

जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह वारांगना बनती है । अन्त में मल्लिका के पास आनेवाला कालिदास को वह खुद सिये हुए पृष्ठों को सौंप देता है कि उसमें कालिदास एक बडे महाकाव्य की रचना करे । अपने जीवन के नष्ट भ्रष्ट होने पर भी प्रेमी के प्रति आत्मीयता को पहले के समान बनाये रखने वाली नारी को मल्लिका दर्शाती है । शरीर की शिथिलता कभी उसके मन को छूती नहीं । लेकिन अथ से आरंभ करने के लिए लौट आए कालिदास एक बार फिर से उससे छूट जाता है । क्योंकि वह मल्लिका के जीवन के कोरे पृष्ठों से अनभिज्ञ था । जिस प्रकार मल्लिका ने अपनी भावना को बनाकर रख लिया था उसे पूर्ण रूप से पहचानने और अपनाने में कालिदास असमर्थ निकलता है । मोहन राकेश ने मल्लिका के चरित्र द्वारा नारी मन के एक पहलू को सजीव रूप से अंकित किया है ।

---

1. आषाढ़ का एक दिन - पृ. 93 - मोहन राकेश

किराये की कोख :-

स्वामी विवेकानन्द ने स्त्री के मातृत्व की महत्ता को यों रेखांकित किया है "भारत में स्त्री जीवन के आदर्श का आरंभ और अन्त मातृत्व में ही होता है ।"[1] मातृत्व इस दुनिया की सबसे बडी विभूति है । स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में ही केन्द्रीभूत रहती है और नारी मातृपद ग्रहण कर स्वयं धन्य हो जाती है । मातृत्व को स्त्री के अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता । माता होकर स्त्री की इच्छा भावना तथा चेष्टा में जो परिवर्तन आता है वही इसका सबूत है । प्रेयसी और पत्नी से अधिक स्त्री का माता रूप ही सर्वश्रेष्ठ है । मनुस्मृति में मनु ने भी नारी के माता रूप को ऊँचा स्थान प्रदान किया । ऐसे होते हुए भी इसी मातृत्व की अवहेलना कभी-कभी समाज में हुई है जो एक नये रूप में आज भी प्रचलित हो रही है, जहाँ मातृत्व की पावनता एवं पवित्रता नष्ट हो जाती है । इसका कारण पुरुष की अधिकार भावना ही है । "स्त्री में प्रजनन की क्षमता होते हुए भी पुरुष उसका स्वामी था, जैसे वह ज़मीन का स्वामी था स्त्री की नियति थी पुरुष की अधीनता ।"[2]

आज स्त्री के महत्व को किराये पर खरीदा जा सकता है। वैज्ञानिक प्रगति की चरम सीमा के इस युग में सन्तानहीन व्यक्तियों को अपनी कोख किराये में देने की रीति आज समाज में मौजूद है, जहाँ जन्म देने के बाद बच्चे के ऊपर माता का कोई अधिकार न रहता है । और कुछ

---

1. विवेकानन्द साहित्य- पृ. 309
2. स्त्री: उपेक्षिता - पृ. 23 - सीमोन द बोउवार

स्वार्थी पुरुषों के लिए स्त्री की हैसियत बच्चों को पैदा करनेवाले यंत्र से अधिक नहीं है । "आधुनिक जीवन स्थितियों ने नारी की मातृत्व की संवेदनाओं को कुंद कर दिया है ।"[1] ऐसी हालत में स्त्री अपने मातृत्व से वंचित हो जाने पर स्त्री अपने जीवन को अधूरा और अर्थशून्य महसूस करती है ।

भीष्म साहनी के नाटक "माधवी" का माधवी भी किराये पर देनेवाली कोख की मालिकन है । मुनिकुमार गालव ने इसे राजाओं को बेचकर बदले में अश्वमेधी घोडे इकट्ठे किये । राजागण, चक्रवर्ती राजा को जन्म देने की माधवी की क्षमता का फायदा उठाने के लिए उसे अपने पास रखने के लिए तैयार हो गये । अपने मातृत्व से वंचित रहनेवाली माधवी का चरित्र आधुनिक समाज में मातृत्व का गला घोंटने के लिए बाध्य नारियों का प्रतीक बन जाती है ।

माधवी को पहले अपनी कोख अयोध्या के पुत्रविहीन राजा हर्यश्व को किराये पर देनी पडी । एक वर्ष बाद पुत्र जन्म होने के साथ वह अपने मातृत्व से वंचित हो गयी । शर्त के अनुसार नवजात शिशु के सोते वक्त माधवी राजमहल से चली जाती है । अपने बच्चे के ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता है । उसके मन की वेदना इन शब्दों में गूँजती है

---

1. समकालीन कहानी युगबोध का सन्दर्भ - पृ. 167 - डा. पुष्पपाल सिंह

"माँ नहीं, केवल जन्म देनेवाला, मैं ने केवल इसे जन्म दिया है ।"[1] गालव से मिलने के बाद भी वह पुत्र के बारे में कहती रहती है जिसे गालव "भावुकता" कहता है, क्योंकि गालव मातृत्व की भावनाओं से अनभिज्ञ है । इसलिए वह कहता है "मैं नहीं जानता था कि सन्तान पैदा हो जाने पर तुम इतनी दुर्बल हो जाएगी । इसलिए शायद स्त्रियाँ जो श्रम के काम नहीं कर सकती, किसी काम का दायित्व वहन नहीं कर सकती ।"[2]

माधवी अब अयोध्या से बाहर जाना नहीं चाहती है । उसको ऐसा अनुभव होता है जैसे उसके पैरों में जंजीरें पड़ी हो । उसके कानों में बच्चे के रोने की आवाज़ गूँजती रहती है । उसमें जो परिवर्तन आ गया उससे वह अवगत है "ओ ! गालव, मैं तुम्हें क्या बताऊँ ? जब तक बच्चे ने जन्म नहीं लिया था, मैं सारा वक्त तुम्हारे बारे में ही सोचती रहती थी, तुम्हारे बारे में, तुम्हारी गुरुदक्षिणा के बारे में । पर उसके जन्म लेने की देर थी कि न जाने मुझे क्या हो गया है ?"[3] जाने से पहले माधवी एक बार फिर अपने पुत्र को देखना चाहती है । अयोध्या के भविष्य का राजकुमार चाहे वह उस का पुत्र ही क्यों न हो उसे बाहर नहीं लायी जा सकती थी । जन्म देते ही माधवी अपने बच्चे से अलग हो गयी, उसका पुत्र उसके हाथों से छीन लिया गया । एक माता के असीम दुःख का चित्र माधवी के इस कथन में है -"न जाने जब मेरा बेटा चक्रवर्ती राजा बनेगा तो मैं कहाँ पर होऊँगी ।"[4] मुक्त होने

---

1. माधवी - पृ. 48 - भीष्म साहनी
2. " पृ. 54 - "
3. " पृ. 50 - "
4. " पृ. 52 - "

पर भी अपनी सन्तान के बिछोह के कारण माधवी जलती रहती है । अब स्वतंत्रता उसके लिए कुछ भी नहीं है । गालव उसे स्वतंत्र कहने पर भी माधवी अपने को स्वतंत्र नहीं मानती है । "स्वतंत्र" ? कैसी स्वतंत्रता गालव ? उन दीवारों के पीछे मेरा नन्हा बालक मुँह खोले मेरा स्तन ढूँढ रहा है और तुम कहते हो मैं स्वतंत्र हूँ ? गालव, क्या सचमुच तुम मुझे स्वतंत्र समझते हो ? जो माँ अपने बच्चे को छाती से लगा पाये, वही स्वतंत्र होती है ।"[1]

पिता के प्रति अपना जो कर्तव्य है उसे पूर्ण करने के लिए और अपने प्रेमी को ऋणमुक्त कराने की इच्छा से प्रेरित होकर एक बार माता हो जाने के बाद भी वह काशी राजा दिवोदास की रानी बनने के लिए अनुष्ठान करके तैयार हो जाती है । राजा दिवोदास को अपनी पैंतीस रानियों से पुत्रलाभ नहीं हुआ था । माधवी ने एक वर्ष उसके रनिवास में रहकर, एक पुत्र को जन्म दिया और गालव ने दो सौ अश्वमेधी घोडे प्राप्त किये । अब की बार माधवी की व्यथा इतनी थी कि वह अपने पुत्र का मुँह देखे बिना राजमहल छोडकर चली गयी । अपनी कोख से तीसरे पुत्र को जन्म देने पर उसे एहसास होता है कि वह भी उससे छीन लिया जाएगा । भविष्य की उस भयानकता को एक दुःस्वप्न में वह दर्शन करती है "अन्धेरे वन के ऊपर एक भीमकाय परी उडा जा रहा है, उसने अपनी चोंच में एक नवजात शिशु को दबा रखा है, और नीचे हाहाकार करके लोग भागते जा रहे हैं । माधवी भी उन्हीं के बीच भागती जा रही है । भयाकुल होकर माधवी की नींद टूट गयी ।

---

1. माधवी - पृ. 54 - भीष्म साहनी

उसे लगा जैसे पक्षी उसी का बच्चा उठाये लिये जा रहा था ।"[1] उसकी आशंका के अनुसार तीसरे पुत्र भी उससे लिया गया, उसके सोते वक्त सेज से राज्याधिकारी उठा ले गया था ।

माधवी के कानों में नवजात शिशु का हल्का सा रुदन गूँजता रहता है, लेकिन वह असहाय थे । उसे अपने प्रेमी के प्रति कर्तव्य निभाना था, इसलिए वह वहाँ से फिर गालव के पास पहुँचती है । गालव को ऋणमुक्त करने के लिए उसके गुरु विश्वामित्र के पास पहुँचकर माधवी अपने को आश्रम में ठहराने की प्रार्थना करती है । विश्वामित्र से वह कहती है "मैं विशिष्ट लक्षणोंवाली हूँ, महाराज, आपको मुझसे पुत्रलाभ होगा ।"[2] गालव की प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए माधवी को अपने मातृत्व की बलि देनी पड़ी जहाँ उसे एक माता के बदले पुत्रलाभ की एक साधन मानकर राजाओं ने उसका उपयोग किया ।

इन नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मौजूदा पारस्थिति में कायम रहनेवाली नारी की शोचनीय स्थिति एक अन्तहीन सिलसिला ही है । कहीं नैतिकता, कहीं धर्मान्धता, कहीं सामाजिक बन्धन और कहीं पुरुष के स्वेच्छापरक स्वार्थों के बावजूद वह स्वतंत्र रूप से अपने जीवन को बनाये रखने में असफल निकलती है । आधुनिक

---

1. माधवी - पृ. 74 - भीष्म साहनी
2. माधवी - पृ. 80 - भीष्म साहनी

युग की नारी चाहे शिक्षित हो और पुरुष के साथ मिल जुलकर समाज में कार्यरत हो, फिर भी पुरानी ढोंगी मान्यतायें सदा उसका शोषण करती रहती हैं । स्वातंत्र्योत्तरकालीन इन नाटकों में नाटककारों ने इतिहास और पुराण के कुछ ऐसे क्षणों से समसामायिक परिवेश का और युग-युगार्थ के इस सिलसिले को प्रस्तुत किया है । और शोषण के सभी पक्षों का उद्घाटन करने में वे सफल भी निकले हैं ।

अध्याय - पाँच

धार्मिक रूढ़िग्रस्तता का ध्वंस

अध्याय - पाँच

धार्मिक रूढिग्रस्तता का ध्वंस

मनुष्य की भलाई के हेतु धर्म का संस्थापन होता है । समाज व मनुष्य जब विश्रृंखलित होता है, जब आस्थाहीन होता है तब धर्म का जन्म होता हैं । इतिहास और पुराण इसका बयान देता है । धर्म मनुष्य को श्रृंखला में बान्ध देता है, आस्थावादी बना देता है, उच्छृंखलता से बचाकर इनसान बना देता है । प्रत्येक धर्म के पीछे कोई देवता या महापुरुष अवश्य ठहरता है, और उसके प्रवचन और आयतें मनुष्य का मार्गदर्शन करते हैं । ये प्रवचन और आयते मनुष्य को तसल्ली देते हैं । इसके प्रचारक और अनुयायी लोग इन प्रवचनों और आयतों की टीका-टिप्पणी या व्याख्या कर देते हैं । ऐसी टीका-टिप्पणी पीढियों-परंपराओं से गुज़रते समय उसमें प्रक्षिप्त जुड जाते हैं और प्रवचनों-आयतों के समान वे भी उसके अंग हो जाते हैं । शनैः शनैः प्रक्षिप्त मुख्य हो जाते हैं या वे भी धर्म के साथ रूढ हो जाते हैं । फलतः धर्म अपने उद्देश्यों और गुणों से अलग हो जाता हैं । पीढियों से एतबार करनेवाली बातों पर अडिग रहना मनुष्य की आदत है ही । इस तरह की रूढियों का दुरुपयोग सांप्रदायिक-राजनीतिक स्वार्थी लोग करते हैं । फलस्वरूप मनुष्य के बीच दरारें पैदा होती है, मनमुटाव पैदा होता है । सन्देह और संघर्ष जन्म लेते हैं । साथ ही साथ मनुष्य भ्रमजाल में पडकर अपनी ही अवनति का कारण बन जाता है । ऐसे वक्त इस प्रकार की धार्मिक रूढिग्रस्तता का ध्वंस अनिवार्य हो जाता है । मध्यकालीन कवि संत कबीरदास धार्मिक रूढिग्रस्तता के ध्वंसकों का सही मिसाल हैं ।

धर्म और उसकी रूढिवादिता

मनुष्य को आध्यात्मिकता प्रदान कर उसे संस्कृत करने के लिए महापुरुषों व देवताओं द्वारा अनेक प्रवचन तथा आयते प्रस्तुत किए गए हैं । इन प्रवचनों और आयतों की नींव पर जिस आध्यात्मिक संस्था की स्थापना होती है वही धर्म है । धर्म का उद्देश्य महान एवं विशाल है । वह मनुष्य को आस्थाहीन, अनैतिक अमानुषिक होने से बचाता है, उसे सीधे मार्ग से आगे ले चलता है । धर्म का रास्ता सत्य दर्शन का है । सत्य दर्शन के लिए विचार स्वातंत्र्य अनिवार्य है । इसलिए धर्म भावनात्मक ही नहीं बल्कि वैचारिक स्तर पर भी मनुष्य का संशोधन करता है, उसे संस्कृत एवं परिष्कृत करता है । धर्म मनुष्य को सन्मार्ग की प्रेरणा देता है । गुरु नित्य चैतन्य यती ने लिखा है कि "सन्मार्ग की ओर अतीव आग्रह तथा पूर्णता को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को धार्मिक बना देता है ।"[1] अपूर्णता का अहसास याने पूर्णता का मोह मनुष्य को आध्यात्मिक बना देता है । तब मनुष्य अन्य स्वार्थों से मुक्त होता है ।

धर्मबोध के अभाव में समाज जीवन में निरंकुशता, उच्छृंखलता, अनैतिकता, आस्थाहीनता, आतंक और निर्ममता पनपने लगती हैं । ऐसे संदर्भों में नए-नए धर्मों की स्थापना होती है और कभी-कभी पुराने धर्म की पुनःस्थापना भी होती है । हकीकत यह है कि धर्म मानव का हितैषी है, मानवीयता के हित-संरक्षण का साधन है । आचार्य तुलसी ने अपने ग्रंथ

---

1. इंडिया टुडे -मलयालम- जनवरी 7 - 1990 - पृ. 64

"क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?" में धर्म के फल और उसके कार्यक्रमों के बारे में बताया है । "धर्म का फल है शान्ति, धर्म का फल है पावत्रता, धर्म का फल है सहिष्णुता और धर्म का फल है प्रकाश । अशान्ति में से जो पावत्रता ढूँढ निकालता है, असन्तुलन में से जो सहिष्णुता को ढूँढ निकालता है और अंधकार में से प्रकाश को ढूँढ निकालता है, वह धार्मिक है, उसे धर्म का फल प्राप्त होता है । उसके हाथ में वर्तमान भी है और भविष्य भी ।"[1] धर्म का पहला सूत्र आस्था है । आस्थावान अपने लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता है । वह किसी भी परिस्थिति में पीछे की ओर नहीं मुडता । ईसा मसीहा, मुहम्मद नबी, गौतम बुद्ध, स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी आदि देवता या महापुरुषों की जीवनी हमें यही सिखा देते हैं । धार्मिक मनुष्य में जैसे - जैसे आस्था प्रबल होती है, वैसे-वैसे वह ज्ञान और चरित्र का विशेष अधिकार पाता है । "धर्म की शिक्षा यही है - परिस्थिति पर विजय पाने की शिक्षा । अनुशासन हमेशा इसलिए पनप रही है कि उसे परिस्थिति को जीतने की बात नहीं सिखायी जाती ।"[2] आस्थाहीन हमेशा लडखडाता रहता है । परिस्थिति से पराजित होकर वह सत्कार्य नहीं कर सकता है ।

संसार में विशेष कर, भारत में अनेक धर्म विद्यमान हैं । प्रत्येक धर्म के मूल में मनुष्य की भलाई ही निहित रहती है । लेकिन प्रत्येक धर्म आजकल अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश करता है ।

---

1. क्या धर्म बुद्धिगम्य है - पृ. 1 - आचार्य तुलसी
2. क्या धर्म बुद्धिगम्य है - पृ. 2 - आचार्य तुलसी

"प्रत्येक धर्म का दावा है कि उसका धर्मग्रंथ असामान्य रूप से ईश्वर की वाणी है और इसलिए निर्भ्रान्त है ।"[1] वास्तविकता यह है कि हर धर्म मानव की आध्यात्मिक उन्नति के लिए जन्म लेता है । लेकिन बाद में उसके प्रचरण प्रसारण के बीच उसमें प्रक्षिप्त जुड़ जाते हैं और मानव हित के बजाय मानव का अहितकार्य बन जाता है । डॉ. राधाकृष्णन सभी धर्मों के अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "विभिन्न धर्मों के अध्ययन से पता लगता है कि उनमें दार्शनिक गहराई, आत्मिक सघनता और उदारता विश्व के किसी एक धर्म की मिल्कियत नहीं है ।"[2] लेकिन दुख की बात यह है कि प्रत्येक धर्म के प्रचारक उपर्युक्त गुणों को सिर्फ अपने-अपने धर्म की मिल्कियत मानते हैं । पुरोहित, पांडा, पुजारी, मौलवी, पीर, पादरी सब धर्म का प्रचार करते हैं । ये मनुष्य की भलाई के लिए नहीं, अपने धर्म के विस्तार के लिए और खुद अपनी उन्नति के लिए करते हैं । इस सिलसिले में ये लोग धर्म की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं । तद्धारा असलियत की जगह प्रक्षिप्त ले लेता है । आहिस्ता-आहिस्ता यह भी धर्म का अंग बन जाता है । आम आदमी धर्मग्रंथ पढकर धर्मावलंबी नहीं बनते हैं । वे परंपरागत रूप में स्वायत धार्मिक रूढियों को धर्म मानकर चलते हैं, उसे पवित्र एवं पावन मानते हैं और शिरोधार्य मानते हैं । जन्म से रूढियों के बीच पले मनुष्य उसका कैदी बन जाता है, धर्मभीरू बन जाता है । क्योंकि उसे असली धर्म की जानकारी कभी नहीं मिलती है । इसप्रकार मनुष्य धर्म के बदले रूढियों पर विश्वास रखता है और धार्मिक शोषण और अत्याचारों का शिकार बन जाता है ।

---

1. सत्य की ओर - पृ. 19 - डॉ. राधाकृष्णन
2. सत्य की ओर - पृ. 179 - डॉ. राधाकृष्णन

धर्मगुरूओं की व्याख्याओं और प्रक्षिप्तों की वजह प्रत्येक धर्म खोखला बन जाता है । कोई भी धर्म रूढियों और प्रक्षिप्तों से मुक्त नहीं है । करूणा के नाम पर जन्म लिये बौद्ध धर्म में से तुरंत ही करूणा गायब होने लगी थी । सबसे उदार समझे जानेवाला ईसाईधर्म भी इससे मुक्त नहीं है । यह अपने धर्म प्रचार के बीच असली धर्म खो रहा है । हिन्दू धर्म रूढियों पर ही चलता है ।

धर्म की आराधना के लिए संप्रदाय बनाया गया । वह धर्म का पर्यायवाची शब्द नहीं था । धर्म संप्रदाय में अटक जाते ही वह गतिहीन हो जाता है । पहले धर्म प्रधान और संप्रदाय गौण रहा । लेकिन बाद में धर्म अप्रधान और संप्रदाय प्रधान होने लगा । धर्म से प्रेम, मैत्री, समता इत्यादि अच्छे गुण पनप रहे थे तो संप्रदाय से वैर, विरोध, विषमता, इत्यादि पनपने लगे । धर्म के अनुसार मनुष्य सब समान है या सब एक ही चैतन्य के अंग है । इसके विपरीत संप्रदाय से अलगाव पैदा हुआ और हर कहीं अलगाव फैलने लगा ।

धर्म और राजनीति का गठबन्धन :

धर्म आज शोषण का अड्डा बन गया है । धर्म की जो परिकल्पना रही थी, उससे धर्म बहुत दूर हो गया है । व्यक्तिगत और दलगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म का उपयोग अधिक किया करता है । उसके साधन के रूप में धर्म का असलीरूप नहीं, रूढियों, अन्धविश्वासों से भरे धर्म उचित ठहरता है । धर्मभारू जनता को शोषण करने का सबसे उचित

साधन भी यही है । धर्म के नाम पर होनेवाले सारे शोषणों और यंत्रणाओं को जनता पावन एवं दैविक मानकर सह लेती है, पुण्य कमाने का मार्ग समझती है । सच्चाई और उबलते प्रश्नों से जनता का ध्यान बदलने का सही साधन धर्म या संप्रदाय है ही । क्योंकि धर्म मनुष्य में अफीम का कार्य करता है ।

सांप्रदायिकता भारत में प्राचीनकाल से चली आ रही है । अन्तर इतना है कि समय के अनुसार उसका संदर्भ और स्वभाव बदल जाता है । "पहले सांप्रदायिक तनाव का संदर्भ वैदिक-अवैदिक जातियाँ, धर्म तथा उनसे संबद्ध लोग थे : ब्राह्मण, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि थे, मध्यकाल में उसका संदर्भ हिन्दू और मुसलमान बनते हैं ।"[1] आधुनिक काल में उसका संदर्भ राजनीतिक स्वार्थ और व्यक्तिगत स्वार्थ प्रधान रहा । आधुनिक काल में सांप्रदायिक राजनीति का उपयोग अंग्रेज़ों ने किया । उन्होंने धर्म के साथ राजनीति को मिलाने का कार्य किया और वे उसमें हासिल हुए । मौलाना आज़ाद उनकी इस नीति से वाकिफ थे । उन्होंने आज़ादी की कहानी नामक ग्रंथ में लिखा है कि "उन्होंने जहाँ बहुत से काम किए, उन्हीं में से एक प्रमुख काम था यहाँ के विभिन्न संप्रदायों-विशेष रूप से हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को रेखांकित करते रहना, उनके बीच विद्वेष और वैमनस्य को बढाते-भडकाते रहना ।"[2] स्वाधानता आन्दोलन को क्षीण करने के लिए अंग्रेज़ों ने सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया साथ ही उसके कार्यान्वयन के लिए हिन्दू

---

1. प्रेमचन्द विरासत का सवाल - पृ. 39 - डा. शिवकुमार मिश्रा
2. आज़ादी की कहानी - पृ. 129 - मौलाना आज़ाद

महासभा और मुस्लीम लीग को अपने हाथ में ले लिया । डा. हरदयाल के अनुसार "अंग्रेज़ हिन्दू सभा से नहीं चिढते थे, क्योंकि हिन्दू सभा सांप्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने का काम आ सकती थी ।"[1] मुस्लिम लीग की ओर से जिन्ना भी यही कार्य करते थे । वे मुस्लिम जनता को कांग्रेस और हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश करते थे । उनका कहना है " हिन्दुस्तान में कई राष्ट्रीयतायें हैं, जिनका आधार धार्मिक भेद है । इनमें प्रमुख राष्ट्र दो है - हिन्दू और मुसलमान, और अलग अलग राष्ट्र होने के नाते उनके अलग अलग राज्य भी होने चाहिए ।"[2] सांप्रदायिक राजनीति के कार्य के परिणाम स्वरूप स्वाधीनता के साथ विभाजन भी संभव हुआ । सांप्रदायिकता और उसकी विभीषिकाओं को मिटाने के लिए विभाजन किया गया । लेकिन वह रक्त बीज असुर की भांति अब हर कहीं उगता है । आज के राजनीतिक लोग और स्वार्थी धार्मिक भी पुराने पल्ला पकडकर अपना अपना काम सीधा करते हैं । इसके लिए हमारे सांप्रदायिक गुलामी ही कारण है । इसके बारे में डा. नरेन्द्र मोहन ने मंटो के शब्दों को उधार लिया है । "हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया । पाकिस्तान अस्तित्व में आते ही आज़ाद हो गया । लेकिन इन्सान दोनों देशों में गुलाम था - सांप्रदायिकता का गुलाम, धार्मिक पागलपन और जनून का गुलाम । पशुता और अत्याचार का गुलाम ।"[3] स्वाधीन भारत में इस खतरे के बारे में राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी लोग वाकिफ हैं । फिर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया है । राजनीतिज्ञ अंग्रेज़ी राजनीति का पल्ला पकडकर आज भी चल रहे हैं ।

---

1. साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ. 88 - डा. हरदयाल
2. आज़ादी की कहानी - पृ. 160 - मौलाना आज़ाद
3. गगनांचल - पृ. 122-198

इसलिए रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि "आज भी इस समस्या का समाधान न तो मुस्लिम लांगी नीति से पाया जा सकता है, न उस नीति से जिस पर हिन्दू सभा, जनसंघ तथा हिन्दू सांप्रदायिक संस्थायें चल रही हैं ।"[1]

समकालीन समाज में धर्म "वोट" पाने का आसान तरीका है । याने राजनीति और धर्म के संबन्ध की ओर ही यह इशारा करता है । धर्म और राजनीति के गठबन्धन, उसके खतरे के बारे में सरकार अवगत है ।[2] विपक्ष भी इससे भली भाँति अवगत है । सांप्रदायिक राजनीति के फलस्वरूप सन् 1989 में जनवरी से सितंबर के बीच में करीब 336 आदमी मारे गए हैं ।[3] सांप्रदायिक हलचलें दिन-ब-दिन बढकर अपनी चरम सीमा तक पहुँची है । ध्यान देने की बात यह है कि सन 1971 में अतिभावुक घोषित घटनाओं की संख्या 80 रही थी, वह पिछले वर्ष में 213 तक पहुँची । अतिभावुक जिलों की संख्या पिछले वर्ष में 82 रही, उनने 1989 में अभी ही सौ को पार कर दिया ।[4] इस प्रकार धार्मिक पागलपन और जनून रोज़ बढ़ते ही रहते हैं, साथ ही सांप्रदायिक राजनीति भी ।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - पृ. 710 - दिनकर

2. Notes on recent Home Ministry document, adding that the growing temptation of communal relations-p26-India Today Jan-3-1990.

3. This year between January andSeptember some 336 people have been killed. p-26-India Today-Jan-3-1990.

4. Also alarming the fact that against 80 communal incidents classified as hyper sensitive districtslast year was 82 in1989 the hundred marck has already been crossed.-p-27 India Today- Jan- 3-1990.

निरंकुश सत्ता द्वारा सामाजिक शोषण और शोषित जनता के बीच संघर्ष हर युग का संकीर्ण प्रश्न है । सत्ता समाज के उच्चवर्ग और धार्मिक पुरोधा साधारण जनता को आपस में लडाकर अपने को सुरक्षित रखते हैं । विभिन्न धर्मों के धार्मिक नेता जनता को धर्मान्ध बना देते हैं और उन्हें अपने धर्म के सीमित दायरे में खडा करके स्वार्थ एवं संकुचित मानसिकता की गहरी खाई में धकेल देते हैं । धर्म के चंगुल में फँसकर और इन स्वार्थी लोगों के आकर्षण में पडकर मानव भ्रम से आपस में विरोध करते हैं और लडने लगते हैं ।

धर्म और संप्रदाय के नाम चल रहे अत्याचार और शोषण को मात्र इतिहास बनाने के लिए साहित्यकार अपना अपना योगदान दे रहे हैं । वे ऐसी रचनाओं की मांग भी करते हैं कि जिनमें यथार्थ हो, जिससे जनता को अवगत कर सकते हैं । इतिहास की पुनःआवृत्ति का विरोध करते हैं और मानव शर्मनाक साबित करते हैं । उनका आह्वान है कि "जो शक्तियाँ स्वार्थों के लिए सांप्रदायिकता को जिलाए रखती है, उनके बारे में खुलकर लिखा जाना चाहिए । सैकडों वर्षों की सांप्रदायिक मानसिकता से मुक्ति का प्रयास भी तभी सफल होगा जब हम उस तंत्र के भी साथ ही तोडने को उद्यत होंगे जो सांप्रदायिकता को प्रश्रय देता है ।"[1] इस प्रकार के राजनीतिक - धार्मिक शासन तंत्र का तोडने के लिए ही मध्यकाल में कबीर, जो जनता का प्रतिनिधि थे, प्रयत्न करते थे । इसलिए कबीर संबंधी नाटक, कविता, लेख इत्यादि की प्रासंगिकता भी है । राजनीति और धर्म के अवैध संबंध और शोषण तंत्र के खिलाफ ही कबीर संबंधी साहित्य के साथ विभाजन संबंधी रचनायें भी प्रकाशित हो रही है ।

---

1. गवाह - सांप्रदायिकता विशेषांक - सं. भगवानदास वर्मा (लेखक - डा. नवल किशोर)

बीहड़ अन्धकार में मानवता की ज्योति :

जब कभी समाज कलुषित एवं अस्तव्यस्त हो जाता है तब समाज में ऐसे कुछ व्यक्ति अवतरित होते है जो टूटे हुए समाज को और जनता को एकीकृत करने का परिश्रम करता है । ऐसा व्यक्ति जानता है कि संघर्ष से भरे पूरे एक समाज में मानव प्रगति कभी संभव नहीं और धर्मान्धता समाज के विकास को अवरुद्ध करेगी । हर युग में रूढ़ियाँ और धार्मिक अनाचार नये-नये वेश धारण करके समाज में प्रत्यक्ष हो रहे हैं । चिन्तक, दार्शनिक और समाज सुधारक इन अनाचारों और सामाजिक बुराइयों से मानव को मुक्त करके उसकी उन्नति चाहते हैं । इन लोगों को पद या धन का मोह नहीं होता, उनका लक्ष्य हमेशा सामाजिक उन्नति के आग्रह से भरा रहता है । वे शोषण करनेवाली सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और निम्न वर्ग की जनता को उभर उठाकर अज्ञान को दूर करने का परिश्रम करते हैं । भारत में ऐसे महान दार्शनिकों व चिन्तकों की श्रेणी में पहले गौतम बुद्ध का नाम आता है और दूसरा महात्मा कबीर का । कबीर मध्यकालीन भारत के एक क्रांतिकारी समाज सुधारक एवं दार्शनिक थे जिन्होंने भक्ति मार्ग से सामाजिक उद्धरण करने का प्रयास किया था । कबीर का व्यक्तित्व तत्कालीन भारत की विभिन्न परिस्थितियों से बना था । अम्बादत्त पाण्डेय के अनुसार "भारतीय मनीषा के इतिहास में प्रथम बार यदि कोई दुर्धर्ष व्यक्तित्व पैदा हुआ जिसने वर्ण विभाजन के सिद्धांत का डटकर विरोध किया हो और इसकी परिधि में अन्धविश्वासों के जाल को तोडा हो वह कबीर था ।"[1]

---

1. आधुनिकता और आलोचना - पृ. 137

मध्यकालीन भारत धर्मान्धता और अनाचारों से भरा एक कलुषित, अस्तव्यस्त समाज था । तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ सब जनता के मूल्यबोध के विपरीत थीं । निरंकुश सत्ता की अराजकता से भरे वातावरण में मानवजीवन टूटन की एक अवस्था तक पहुँच चुका था । एक ओर सत्ता से शोषण और दूसरी ओर धर्मान्धता से उत्पन्न मानसिक तनाव दोनों ने जनता को एक प्रकार की मानसिक जडता प्रदान की थी । इस प्रकार मध्यकालीन भारत राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से पतनोन्मुख अवस्था में था । उत्तर भारत उस समय विदेशी आक्रमणों और शासन से अव्यवस्थित हो गया था । ग्यारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक तुग्लक, सैयद और लोदी राजवंश उत्तरी भारत के अधिकारी थे और दिल्ली के सिंहासन पर अनेक सम्राट उपविष्ट हुए । मुसलमान शासक अपने बल और शक्ति के द्वारा हिन्दू राजाओं को पराजित करके भारत में अपने राज्य की स्थापना करना चाहते थे । उनका लक्ष्य जनता की भलाई नहीं था मगर राज्य का विस्तार था । हिन्दू राजा आपसी संघर्ष और ईर्ष्या के कारण शक्तिहीन हो चुका था, फिर भी अतीत के नाम पर वे अपने को खुद श्रेष्ठ समझते थे । दोनों विभाग के शासक जनेच्छा और जनहित के अनुसार शासन नहीं करते थे । शासकों के बीच सदा जो संघर्ष चल रहा था उसका प्रतिफलन सामाजिक जीवन पर भी होता था ।

राजनीतिक संघर्ष से अधिक, धार्मिक एवं आर्थिक संघर्ष जनता को चकनाचूर कर रहा था । विभिन्न धर्म और सिद्धांतों के लोगों के बीच सदा संघर्ष चलता रहा । हिन्दू और इस्लाम धर्म के अलावा बौद्ध, जैन आदि धर्म के लोग भी समाज में थे । बाहर से आये हुए मुसलमानों तथा

यहाँ के निवासी हिन्दू दोनों बाहरी और भीतरी तौर पर अनुष्ठान विश्वास तथा कर्मों में एकदम विभिन्न थे । दोनों अलग अलग आचरण पर जीनेवाले, विभिन्न संस्कृतियों के लोग थे और वे अपनी परंपरागत मान्यताओं से बाहर आना नहीं चाहते थे । धर्म के नाम पर खुले रूप में वे आपस में विरोध करते थे । परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "धर्म के क्षेत्र में न केवल हिन्दू तथा मुसलमान दो वर्गों में बंटकर आपस में लड-भिड रहे थे, अपितु यती, जोगी, सन्यासी शाक्त, जैन, शेख तथा काज़ी भी सर्वत्र अपनी अपनी हाँक रहे थे । सभी अपने अपने को सत्य मार्ग का पथिक मानकर एक दूसरे के प्रति घृणा तथा द्वेष के भाव रखते थे । इस प्रकार वर्गों के भीतर उपवर्गों की सृष्टि हो रही थी जो प्रत्येक दूसरे को नितांत भिन्न तथा विधर्मी तक समझने की चेष्टा करता था ।"[1]

सत्ता मुसलमानों के हाथ में होने के कारण हिन्दुओं को अनेक अत्याचारों का शिकार बनना पडा । आक्रमणकारियों ने हिन्दुओं के कई आराधना मूर्तियों और मन्दिरों को उजाडा था और उस समय हिन्दू धर्म की शोभा नष्ट हो रही थी । इन कारणों से हिन्दु जनता संस्कृति तथा धर्म की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रही दूसरी ओर मुसलमान लोग इस्लाम धर्म का प्रचार करने लगे और अन्य धर्म के लोगों को पीडित करने लगे । डा.प्रह्लाद मौर्य ने लिखा है "मध्यकाल भारतीय इतिहास का वह युग है जिसमें दो संस्कृतियों का संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा । हिन्दुओं के प्रदेश में

---

1. उत्तरी भारत की संत परंपरा - पृ. 182-183

मुसलमानों के बलात् आक्रमण एवं अत्याचार भारतीय जनता के विरोधी तत्व बन गये । इसीलिए दोनों का हृदय कभी एक न हो सका । इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों जातियों के दो अलग अलग धर्म थे और दोनों धर्म का अलग अलग दो दिशायें थी । एक मूर्तिपूजक था तो दूसरा मूर्तिभंजक ।"[1]

शासक अपने धर्मानुयायियों को प्रत्येक सुविधा और आर्थिक सहायता देता था जिसने सामाजिक जीवन को असन्तुलित बना दिया और स्वाभाविक रूप से समाज में आर्थिक संघर्ष भी पैदा हुआ । गरीब सदा अवहेलना का पात्र बन गया और हर क्षेत्र में पीछे रह जाता था । परिश्रम करके जीवन बितानेवाले निम्न वर्ग सदा शोषण का शिकार बना । संकुचित मनस्थिति एवं स्वार्थता के कारण जनता के बीच आपसी संबंध बिगड गया । अपने धर्म के लोगों पर लोग विश्वास तथा दूसरों से विरोध करने लगे । "मुसलमानी शासन में जातिगत पक्षपात भी होता था । मुसलमान धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए राजकीय सुविधायें प्राप्त थी । अच्छे पदों पर मुसलमानों की नियुक्ति होती था और साधारण पदों पर हिन्दुओं की । इन्हीं कारणों से हिन्दू निर्धन होते आये और मुसलमान धनी । इसीलिए हिन्दु मुसलमान दोनों वर्गों में काफी असमानता होती गयी और इस असमानता के कारण दोनों में संघर्ष के भाव और बढते गये ।"[2]

संघर्ष से भरे कलुषित समाज से एक विभाग लाभ उठाते थे, वे थे धार्मिक पुरोधायें जैसे पाण्डे, शास्त्री और मुल्ला । समाज के सभी

---

1. कबीर का सामाजिक दर्शन - पृ. 45 - प्रह्लाद मौर्य
2. कबीर का सामाजिक दर्शन - पृ. 61 - प्रह्लाद मौर्य

धर्मों में उस समय अनेक अनाचारों तथा कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों से निर्मित था, इन्हीं अनाचारों में सामाजिक चेतना डूब गयी । हिन्दुओं के बीच जाति व्यवस्था जटिल रूप में थी, ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ और पवित्र मानता था और म्लेच्छ जाति को छूना तथा देखना भी पाप समझता था । जो पाखण्ड एवं कर्मकाण्ड समाज में प्रचलित था वह सब, पाण्डों और मौलवियों द्वारा अज्ञानी जनता को भुलावा देने के लिए बनाया था । इन धार्मिक नेताओं को समाज में आदरणीय स्थान था जिससे वे लाभ उठाते थे । वे बिना कुछ काम किये अपना कार्य सिद्ध करते थे । धर्मभीरू जनता इनके लिए सहायक बनी । हिन्दु धर्म में अनेक पाखण्ड जुड गये थे । इन कर्मकाण्डों के संचालक पण्डित या पाण्डे थे जो जनता को अनेक तंत्र मंत्रों के आकर्षण से मुग्ध किये थे । इन कर्मकाण्डों की एक पुरानी प्रथा थी जिसका निर्वाह करना सामाजिक प्रतिष्ठा की बात थी । इसलिए सबको उन रीति-रिवाजों में चलना पडता था । ये पण्डित दूसरों से परसेवा, पर-उपकार, दान, पुण्य आदि की बातें करते थे और इस प्रकार की शिक्षा देते थे पर स्वयं वे लोग इससे दूर थे ।[1]

इस प्रकार मध्यकाल में जीवन के सभी क्षेत्रों में सामाजिक शोषण ही हो रहा था ।

---

1. कबीर का सामाजिक दर्शन - पृ.108-9- प्रह्लाद मौर्य

इस प्रकार मध्यकाल के जीवन के सभी क्षेत्रों में सामाजिक शोषण ही हो रहा था । "आदमी के चारों ओर जाति, धर्म, आचार, विचार और कर्मकाण्डों का जाल इतना बुन गया कि उसको ज़िन्दगी में एक क्षण का अवसर अपने आप को आज़ाद अनुभव करने के लिए न बचा, तब विकास कार्यों में जकड़न आ गयी और सारी संभावनाओं को लकवा मार दिया ।"[1] फलस्वरूप लोगों के बीच आदर, प्रेम और पारस्परिक विश्वास नष्ट होने लगे । बिगड़ते हुए समाज को पुनर्निर्माण करने के लिए क्रांतिकारी कबीर समाज में प्रकट हुए । उसने समाज के सभी अनाचारों तथा बुराइयों पर आक्रमण किया । हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है " अकारण सामाजिक उच्च नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान के नाम पर पाखण्ड रखनेवालों को उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरों को गुमराह बनानेवालों को उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा । ऐसे अवसरों पर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे ।"[2] कबीर ने अपनी युक्तियों द्वारा भक्ति के मार्ग से अज्ञान को दूर कर समाज में शांति और जनता के बीच एकता और विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया ।

युगद्रष्टा एवं मानवीय चेतना के कवि कबीर एक विद्रोही व्यक्तित्व का मालिक था । इस ऐतिहासिक चरित्र को लेकर अनेक नाटकों का रचना हुई । भीष्म साहनी का "कबिरा खड़ा बाज़ार में", मणि मधुकर का "इकतारे की आँख" और नरेन्द्र मोहन का "कहै कबीर सुनो भाई साधो "

---

1. मध्ययुगीन रचना और मूल्य - पृ. 20 - कमला प्रसाद
2. कबीर - पृ. 169

आदि इसमें उल्लेखनीय है । गोविन्द वल्लभ पंत का "काशी का जुलाहा" नामक नाटक भी स्वातंत्र्योत्तर युग में कबीर के जीवनी के आधार पर लिखा गया है। इस नाटक में आधुनिक संदर्भ को प्रस्तुत करने के लिए नहीं लेकिन कबीर के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को लेखक ने दुहराने का प्रयास किया ।

"कबीरा खडा बाज़ार में" नाटक ऐतिहासिक पात्र कबीर के आधार पर भीष्म साहनी द्वारा लिखा गया है । प्रस्तुत नाटक में भीष्म साहनी ने मध्ययुगीन अस्तव्यस्त समाज में कर्मनिरत क्रांतिकारी समाज सुधारक कबीर का चित्र प्रस्तुत किया है । भीष्म साहनी ने कहा है कि "नाटक में उनके काल की धर्मान्धता, अनाचार, तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके "निर्भीक, सत्यान्वेषी प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश है ।"[1] भीष्म साहनी का लक्ष्य कबीर का जीवन चित्र प्रस्तुत करना नहीं बल्कि एक समाज सुधारक के विद्रोही व्यक्तित्व का और निरंकुश सत्ता की अमानवीयता पर प्रकाश डालना है ।

साहनी जी कबीर के व्यक्तित्व से उतने प्रभावित हुए कि आज वे ऐसे व्यक्तित्व की माँग करते हैं । क्रांतिकारी सामाजिक शक्तियाँ आज भी समाज को सुधारने के लिए सक्रिय हैं और कबीर के विद्रोही व्यक्तित्व को हम आज भी आसपास ढूँढते हैं । इसलिए छः सौ वर्ष पुरानी कथा का आधार लिये रचित यह नाटक आज भी प्रासंगिक है । श्री जोगेन्द्र सिंह शर्मा

---

1. कबीरा खडा बाज़ार में - भूमिका - पृ. 9

के अनुसार "कबीर की यह विद्रोही चेतना आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी कि कबीर के समय थी । क्योंकि जिस समाज में हम जी रहे हैं वह समाज आज भी मध्ययुगीन सामन्तीय मूल्यों पर आधारित है । जिन तानाशाही शक्तियों की बर्बरता, सांप्रदायिकता, सामाजिक बुराईयों आदि के खिलाफ कबीर लड रहे थे, वे आज भी समाप्त नहीं हो पायी है, बल्कि आज ज़्यादा खतरनाक ढंग से सिर उठा रही है । ऐसे माहौल में कबीर हमारे लिए सिर्फ कबीर नहीं रह जाते, बल्कि उन तमाम संघर्षशील शक्तियों का प्रतीक बन जाते हैं जो कबीर के इस लडाई के मोर्चे पर आज किसी न किसी रूप में सक्रिय है ।"[1] कबीर के जीवन और उसके संघर्षशील व्यक्तित्व तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ प्रस्तुत करके धर्म के नाम पर आज हमारे चारों ओर होनेवाली घटनाओं को साहनीजी ने चित्रित किया है ।

सामाजिक पुनरुत्थान के लक्ष्य से कबीर जनता के बीच उतर आता है । कलुषित एवं बिगडे हुए समाज की स्थिति और शासन की अराजकता को देखकर कबीर को ऐसा लगा कि केवल एक क्रांतिकारी चेतना से वह अपनी लक्ष्य पूर्ति कर सकता है । उस समय भक्ति आन्दोलन दक्षिण से आरंभ होकर उत्तरी भारत तक फैल रहा था और इसलिए कबीर जनता के उद्धार के लिए भक्ति मार्ग अपनाता है । वह जानता था कि इस मार्ग से ही वह धर्मान्धता एवं संघर्ष से भरे जनमानस में एकता, प्रेम और शांति की भावना उत्पन्न कर सकता है ।

---

1. दस्तावेज़ - पृ. 44 - डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

समाज की जिस श्रेणी से कबीर का आविर्भाव हुआ था वहाँ जनता आर्थिक विषमता, उच्च जातियों के उत्पीडन आदि से दुःख झेल रही थी । डा. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वे दरिद्र और दलित थे इसलिए अन्त तक वे इस श्रेणी के प्रति की गयी उपेक्षा को भूल न सके ।"[1] कबीर स्वयं काम करके जीवनी कमाता है और इस तत्व को लोगों के बीच फैलाता भी है । साथ ही साथ अपने विद्रोह भरे सिद्धांतों का निम्न जाति के बीच प्रसार करता रहा । उसका लक्ष्य अज्ञान और अन्धविश्वास को दूर करके जनता का उत्थान और शोषक सत्ता के प्रति विद्रोह है । "कबीर ने पहली बार हरिजनों, गिरिजनों, मुसहरों, डोमों अर्थात सामाजिक शोषण की शिकार तथाकथित निम्नजातियों को धर्माधार बनकर उन्हें अपने अस्तित्व संघर्ष के लिए संगठित किया है । आत्मविवेक के बल पर कागद की लेखनी के बजाय आँखिन की देखी को महत्व देकर शास्त्रमुख वर्ग को निरुत्तर किया और इस प्रकार पिछडे वर्गों को हीनबोध से मुक्त किया ।"[2] इसके लिए उसने विद्रोह भरे कई मार्ग अपनाये और अपनी ज़िन्दगी में बहुत कुछ उसे भोगना भी पडा ।

निम्न श्रेणी के अनेक लोग कबीर के अनुयायी बने और वे कबीर के भक्ति भरे पदों को गाते फिरते थे । कबीर के कवित्तों में भक्ति ही उभर आती है फिर भी उसमें निरंकुश सत्ता के प्रति विद्रोह भी निहित है । कबीर ने सडक में, बाज़ार में और मस्ज़िद की सीढ़ियों पर खडे होकर

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका - पृ. 104
2. दस्तावेज़ 31-32 पृ. 66 - लेखक - सूर्य प्रसाद दीक्षित - सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

अपने पदों के द्वारा लोगों को सच्ची भक्ति एवं साधना का मार्ग दिखाया । कबीर उस परम सत्ता की खोज में था जो सब मानव के दिल में बसता है । कबार का यह विश्वास था कि सच्ची ईश्वरोपासना घर में रहकर इस संसार के सुखदुःखों को भोगकर ही कर सकते हैं । उसके मत में अपने कर्म और धर्म को छोडकर तपस्या करना मिथ्या है । इसलिए उसने कहा -

"परबति परबति मैं फिरिया
नैन गंवाये रोये ।
सो बूटा पाऊँ नहीं
जाते जीवन होये
सुखिया सब संसार है, खावे अरू सोवे,
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोवे ।"[1]

समाज में जहाँ-जहाँ कबीर ने अत्याचार और अनीति देखा वहाँ सब वह विद्रोह करता रहा । उसके मन में जो सवाल उठ जाता था, उसके लिए समाधान मिलना उसे एक ज़रूरी था । इसलिए वह मुल्ला-मौलवियों तथा पण्डित शास्त्रियों से सवाल पूछता रहता है । अपने मन में उठे प्रश्नों को समाधान मिलने तक वह बेचैन हो उठता है । कबीर की इस आदत से निराश होकर उसकी माँ पूछती है "तू क्यों लोगों से सवाल पूछता-फिरता है ।"[2] मौल्लवी मुल्लाओं से भी कभी कोई सवाल पूछता है । वे चिढ जाते हैं । इन लोगों के हाथ में हमारा रोटा है कबिरा तू कब समझेगा ? क्यों अपने माँ-बाप को भूखों मारता है । स्वयं कबीर भी जानता है कि इन

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 24
2. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 17

सामाजिक शक्तियों से उलझना उचित नहीं है, लेकिन वह अपने चारों ओर होनेवाली बातों को अनदेखा नहीं कर सकता है । वह स्वयं कहता है "मुझे शक्ति नहीं चाहिए, मुझे इस अंधेरे में रोशनी की लौ चाहिए ।"[1] इस उद्देश्य के कारण वह कसाई के द्वारा गाय और उसके बछडे को ले जाते देखकर और महन्त की शोभायात्रा के बीच पड़ गये नीच बालक को मारते देखकर उसके प्रति आवाज़ उठाता है ।

जो कुछ मन में आता था उसे कहने के लिए वह न हिचकता था । अजान करने आये मुल्ला का वह खिल्ली उठाता है ।

"काँकर पाथर जोर करि
मस्जिद लयी चुनाय
ता चढ़ मुल्ला बाँग दे
क्या बहरो भयो खुदाय ।"[2]

कबीर कर्मभीरु नहीं था । कबीर के मुँह बन्द करने के उद्देश्य से कोतवाल कबीर के अनुयायी अन्धे भिखारी को पकडकर उसे सजा देता है । लेकिन अपने अनुयायी की मृत्यु होने पर भी कबीर पीछे नहीं हटता है, वह अपने मार्ग से तनिक भी पीछे हटने के लिए तैयार नहीं था । अपने साथियों को मिलाकर वह सत्संग लगाता है जो दमन करनेवालों के प्रति

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 24
2. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 66

एक ललकार था । अपने साथियों से कबीर कहता है " कोतवाल तो यही चाहता है कि हम चुप हो जाय, हमारी आवाज़ बन्द हो जाए । पाण्डे-मौलवी भी यही चाहते हैं । नहीं, रैदास जी अब हम मिलकर अपने कवित्त गायेंगे, गली बाज़ार में गायेंगे, समागम करेंगे, हम सत्संग लगायेंगे ।"[1]

कबीर मानव प्रेम को सच्ची आराधना मानता था । मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो प्रेम है वही मानव जीवन की सबसे श्रेष्ठ अनुभूति मानता था ।

"पोथी पढि पढि जग मुआ, पाण्डित भया न कोय ,
ढाई आखर प्रेम का, पढे तो पण्डित होय ।"[2]

सत्ता द्वारा कई तरह की बाधाओं को उसे सामना करना पडा । अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं को स्वीकारने के लिए वह सदा तैयार था । वह जानता था कि यदि सत्संग लगाना छोड दें तो आगे फिर उसे कोई बैठने नहीं देगा ।

कबीर मानव एकता का विश्वासी था । हर एक धर्म मानव के बीच दुश्मनी फैलाता है । उसका आग्रह था कि इन्सान इन्सान को असली रूप में देखें । "जब तक किसी की नज़र में एक ब्राह्मण है और

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 45
2. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 44

दूसरा तुर्क तब तक वह इन्सान को इन्सान नहीं समझेगा । मैं इन्सान को इन्सान के नाते गले लगाने के लिए, मन्दिर के सारे पूजा-पाठ और विधि अनुष्ठान छोडता हूँ और मस्जिद के रोज़ा-नमाज़ भी छोडता हूँ ।"[1]

वर्ण व्यवस्था को तोडने के लिए कबीर ने सब जातियों को मिलाकर भण्डारा का आयोजन किया । इस प्रकार अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए अपने मार्ग पर अडिग रहना उसके व्यक्तित्व का अंश था । वह स्पष्ट वक्ता था । विद्रोही कबीर बादशाह सिकन्दर लोदी के सामने भी सच कहने के लिए और अन्याय के प्रति अपना विद्वेष प्रकट करने के लिए नहीं डरता है । बादशाह के गले में पडी हुई मोती के हार के बारे में वह अमीर खुसरो का कथन दुहराता है कि "अपने बादशाह के गले में मोतियों का हार देखकर उन्होंने फर्माया था कि गरीबों के आँसू मोती बनकर बादशाह सलामत के गले की जेवाइश बने हैं ।"[2] इस कथन द्वारा कबीर का लक्ष्य सामाजिक उत्पीडन की ओर इशारा करना है । सिकन्दर लोदी की बिहार में जो विजय हुई वह कबीर की दृष्टि में खुदा की तौहीन है । स्पष्ट वक्ता कबीर का यह अभिप्राय सुनकर बादशाह चौंक जाता है और कहता है । "तुम पहले इन्सान हो जो हमारे सामने इस तरह बोलने की जुर्अत कर रहे हो । लेकिन हम तुम्हारे साथ नरमी से पेश आयेंगे क्योंकि किसी फकीर-फकीर पर हम हाथ नहीं उठाते ।"[3]

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 85
2. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 99
3. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 100

हिन्दू और इस्लाम दोनों से भिन्न अपने मज़हब के बारे में वह कहता है कि उसके दिल में उसका मालिक बसता है और उसका लक्ष्य तक इन्सान से दूसरे इन्सान के दिल तक जाना है । कट्टरधर्मी बादशाह के सामने उसकी यह कविता यही स्पष्ट करता है ।

"एक निरंजन अल्ला मेरा, हिन्दू तुर्क दुहीं नहीं मेरा,
पूजा करूँ, न नमाज़ गुज़ारूँ , एक निराकार हिरदै नमस्कारूँ
न हज जाऊँ, न तीरथ पूजा, एक पिछण्या तो क्या दूजा,
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा ।"[1]

बादशाह के सामने भी अपने सिद्धांतों को बिना किसी भय से प्रस्तुत करनेवाला कबीर एक क्रांतिकारी, निडर, समाज सुधारक ही है । उसके बारे में प्रभाकर श्रोत्रिय का यह कथन उचित ही है "कबीर की सामाजिक चेतना में उस युग का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है और उनकी विद्रोह भावना में सामाजिक वेदना से मुक्ति की कामना प्रकट हुई है । कबीर ने हिन्दू धर्म और इस्लाम की विकृतियों का पर्दाफाश किया है । हिन्दू समाज और मुसलमानों के सामाजिक जीवन में धर्म के नाम पर पैसे पाखण्ड, शोषण और अन्धविश्वास का खण्डन किया है । कबीर की कविता में एक सुधारवादी सन्देश है, एक जनवादी चेतना भी है, जिसे उस सामन्ती समाज के संदर्भ में क्रांतिकारी कहा जा सकता है ।"[2]

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - पृ. 102
2. हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका - पृ. 76

समाज सुधारकों तथा सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने-वालों को सदा व्यवस्था से संघर्ष करना पडता है । धार्मिक शक्तियाँ ही प्रमुख रूप में इन दोनों के बीच संघर्ष करने के लिए कारण बनती है । धार्मिक रीतियों और आचारों का अस्वीकार मज़हबी लोग नहीं सह सकते हैं । इसलिए वे अपनी विरोधी शक्तियों का, व्यवस्था की सहायता से दमन करते हैं । समाज की सभी क्रियाशील शक्तियों को यह दमन भोगना ही पडता है और शक्तियों एवं सत्ता से जूझना पडता है । निम्न जाति को कुछ बोलने का अवसर नहीं दिया जाता था । इसलिए नीच जाति का कबीर जब अन्याय के प्रति शब्द उठाने लगा और जनता में जागृति पैदा करने लगा तो उसे व्यवस्था से सदा टकराना पडता है । मज़हबी ताकतों की प्रेरणा से, कबीर को चेतावनी देने के लिए उसके अनुयायी अन्धे भिखारी को, कोतवाल सजा देता है । कोतवाल जानता है कि कबीर को सजा देना उचित नहीं है । उसके इन शब्दों में व्यवस्था की चाल स्पष्ट होती है "सुनो मौलवी, यह शहर हिन्दुओं का मुकद्दस शहर है । यहाँ के राजा हिन्दु है । यह लोदी बादशाह को खिराज देता है । अगर मज़हब के नाम पर इस आदमी को पकडकर सजा देंगे तो किसी को बुरा लग सकता है ।"[1] चौंक में आदमियों को हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाना कोतवाल की अमानवीयता और व्यवस्था द्वारा दुर्बल जनता के दमन का स्पष्ट प्रमाण है । लेकिन कबीर को डराने के लिए जो कुछ कोतवाल करता है वह सब असफल निकलता है । उसने कबीर के साथी अन्धे भिखारी को कोडे लगवाये, कबीर की झोंपडी जलायी गयी, उसे गंगा में डुबोया गया, उसकी चमडी उधेड गयी, उसे मस्त हाथी के आगे फेंका गया । लेकिन इन सब का कोई भी असर कबीर पर नहीं पडता है, वह बिलकुल निडर था ।

---

1. कबिरा खडा बाज़ार में - 40

सिकन्दर लोदी कबीरदास से मिलता है । तानाशाही शासक बादशाह सिकन्दर लोदी कबीरदास नामक फकीर के वाक्पटुता, तर्क-वितर्क, सत्य-भाषण आदि से प्रभावित होता है । वास्तव में वह कबीर को दिल्ली ले जाना चाहता है जहाँ पीर शेख तक्की से उसकी मुलाकात हो जाय । लेकिन कोतवाल से जब सिकन्दर लोदी को जानकारी मिलती है कि यह व्यक्ति नगर में बदअमनी फैला रहा है और दीन की तौहीन करता रहता है तो बादशाह का दंभ एवं स्वार्थता जाग उठता है । अपने धर्म को बुरा माननेवाले के प्रति बादशाह का क्रोध भडक उठता है और वह कबीर को दण्ड देता है । अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए अन्त तक व्यवस्था से टकरानेवाला कबीर, अमानवीय व्यवस्था के शिकार बननेवाली सामाजिक शक्तियों का प्रतीक है ।

ऐतिहासिक व्यक्तित्व कबीर के आधार पर मणि मधुकर ने 'इकतारे की आँख' की रचना की है । नाटककार का लक्ष्य इतिहास का पुनःकथन नहीं बल्कि एक सामाजिक प्रश्न पर ज़ोर देना है । नाटक में एक ओर मध्ययुगीन धर्मान्ध समाज का चित्रण है जो आज की भारतीय परिस्थितियों में भी कायम है और दूसरी ओर एक समाज-सुधारक एवं मानव प्रेमी व्यक्तित्व के रूप में कबीर का चित्रण और शासन द्वारा उसके प्रति अत्याचार का चित्र प्रस्तुत किया गया है । सामाजिक शोषण से निम्न वर्ग की जनता को बचाने का कबीर का प्रयत्न शासक वर्ग सह नहीं सकते थे । इसलिए अधिकारी वर्ग से और मजहबी लोगों से कबीर को तिक्तानुभव सहना पडता है । कबीर जैसा व्यक्तित्व आज भी हमारे समाज में है । इसलिए मणि मधुकर का यह

नाटक इतिहास के साथ साथ आधुनिकता को भी अपने में समाहित करता है । "नाटक कबीर जैसे युगपुरुष के बहाने आज के देश-काल और उससे सम्पृक्त अनेक ज्वलंत मुद्दों का जायजा लेता है । तत्कालीन धार्मिक वातावरण और सांप्रदायिक स्थितियों को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि वे आज के माहौल से भिन्न नहीं लगती है । कबीर का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है । जाति और वर्ग भेद से ऊपर उठकर उसका व्यक्तित्व तक बड़े सौहार्दपूर्ण समाज की रचना के लिए समर्पित दिखलाई पड़ता है ।"[1] इस प्रकार नाटककार से इतिहास एवं भूगोल की हदों से बाहर आकर समकालीन प्रश्नों तथा सामाजिक अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं की सच्चाईयों को उभारते हैं ।

मध्यकालीन भारत धार्मिक अराजकता से भरपूर था । हिन्दू-मुसलमान दो भिन्न धर्मावलंबी आपस में विरोध करते थे । समाज में जोगी-मुल्ला और पाण्डे जैसे मज़हबी लोग जो थे वे अपने को स्वयं महात्मा समझते थे और समाज में ढोंग रचाते थे । हिन्दू धर्म में जाति व्यवस्था के कारण उच्च धर्मावलंबी समाज के निम्न वर्ग को इन्सान के रूप में नहीं देखते थे । उनके ऊपर मजहबी लोगों का अत्याचार चल रहे थे । विभिन्न विश्वासों के पीछे चलकर लोग ईश्वर प्राप्ति के लिए व्यग्र थे । उनकी साधना तो सच्ची साधना भी नहीं थी । क्योंकि यदि एक साधु बन जाए तो जीवन में वह सबकुछ प्राप्त कर सकता था ।समाज के आदर एवं सम्मान और अन्य आवश्यकतायें भी बिना किसी बाधा के साथ उसको मिल सकते थे ।

---

1. इकतारे की आँख (नाटक) - फ्लैप से - दैनिक हिन्दुस्तान

जो कुछ गलतियाँ तथा अत्याचार साधु लोग करते थे वे समाज की आँखों में ठीक ही थे । समाज के उच्चवर्ग इन साधुओं की सहायता करते थे । जोगियाँ सदाचार को मानने में भी तैयार नहीं थे । रैदास की पत्नी को रास्ते से पकडकर ले जाना और रैदास को रस्सी से बाँधकर रास्ते में छोड देना इसकेलिए प्रमाण है । जोगियाँ द्वारा किया गया यह अन्याय उच्चवर्ग के लोगों ने गलत नहीं माना । उनकी राय में रैदास साधु-महात्माओं के चरित्र को कलंक लगानेवाला है । रैदास के इन शब्दों में जोगियों द्वारा अबला नारी पर होनेवाले अत्याचार का परिचय मिलता है । "मैं ने सुना है कि वे लोग जिस औरत को मठ में ले जाते हैं, बेआबरू करने के बाद उसे वहीं मारकर गाड देते हैं ।"[1]

धर्मान्ध लोग कार्यसिद्धि के हेतु महाभैरवी का शरण लेते हैं और हठयोग का अनुसरण भी करते हैं । साधु और मुल्ला, लोगों को भटकाते थे । मुल्ला, अल्ला के नाम पर मोज़ेज दिखाकर अन्धों की आँखों की रोशनी प्रदान करने की झूठे वादा करता है । जब कबीर सच्ची बात को लोगों के सामने प्रमाणित करता है तो लोगों को मुल्ला की करनियाँ का पता चलता है । धर्म के नाम पर होनेवाले अधर्म का पर्दाफाश ही कबीर चाहता था । उनके इन शब्दों में यह स्पष्ट झलकता है । "काशी के लोगों, चारों तरफ यहाँ ढोंग चला रहा है । पंडित-जोतसी बीमारों को अच्छा कर रहे हैं । मुल्ला अन्धों को आँख दे रहे हैं । असल में उन्हीं के सिखाए-पढाए लोग बीमार और अन्धे बनते हैं और फिर चमत्कार की डोंडी पिटवाई जाती है ।"[2]

---

1. इकतारे की आँख - पृ.37
2. इकतारे की आँख - पृ.45

कबीर को न किसी से शत्रुता थी वह विश्वास करता था कि यदि जनता में सत्य को सत्य एवं झूठ को झूठ कहने का साहस हो तो सत्ता और धर्म के अत्याचार एवं शोषण खतम हो जायेंगे । सरकार द्वारा जनता पर जो घोर अत्याचार चल रहा था इसका प्रमाण महंगू दर्जी के आवेदन से मिलता है । कोतवाल ने नीच जातियों और गरीबों के एक मुहल्ले-वालों को एक हाथी को खिलाने पिलाने की जिम्मेदारी दी । लेकिन गरीबी के कारण जब महंगू दर्जी इससे छुटकारा माँगते तो कोतवाल उन लोगों को दो हाथियों के पालन-पोषण तथा पचास कोड़े तजा भी देते हैं । एक सिपाही के शब्दों से इन अत्याचारों का चित्र स्पष्ट उभर आता है । "फीलखाने के हाथियों की ही तरह पंडितो, मुल्लाओं, महन्तों और जोगियों के खानपान, भोग आराम, का जिम्मा भी हमने अलग अलग मुहल्लों पर डाल रखा है । किसी को कोई कष्ट नहीं ।"[1] और एक सिपाही कोतवाल की सवारी होनेवाले रास्ते में मिट्टी गीली करने की वजह से एक बच्चे का कत्ल कर देता है । इस कृत्य से उस सिपाही को कोतवाल द्वारा तरक्की की सूचना भी मिलती है । इस प्रकार की अमानवीयताओं के बावजूद भी कुछ लोग कोतवाल की तारीफ करते थे । उन्हें यह मालूम था कि वह सिकन्दर लोदी का विश्वासपात्र है तथा काशी राजा पर निगरानी डालने के लिए लोदी ने उसे यहाँ रखा है ।

कबीर अपनी जाति को नीच या कम समझना नहीं चाहता था । इसके प्रति भी वह आवाज़ उठाता रहा । बारह वर्ष तक

---

1. इकतारे की आँख - पृ. 48

वह अपनी माँ की सहमति से काशी से दूर देश-देशों में भटकने गया था । कबीर की माँ नीमा अन्याय के सामने सिर झुकानेवाली नहीं थी । माता से ही शायद कबीर को भी अनीति के खिलाफ प्रकट होने का, आँखें खुलकर समाज की वास्तविक स्थिति को पहचानने का तथा जुलाहा जाति के लोगों में जागृति पैदा करने का आग्रह मिला होगा । कबीर में अपनी जाति के प्रति ममता एवं सम्मान है इसलिए जुलाहा कहने में वह गर्व करता है । "जुलाहा हूँ, जुलाहा रहूँगा । बापू कहा करते थे, वैसे तो दुनिया के नंगेपन को कोई ढक नहीं सकता लेकिन हम जुलाहे उसे ढकने की कोशिश करते हैं ।"[1]

कबीर ने देश देश में जो यात्रा की वह केवल अनुभव के लिए थी । वह अपने लिए उस आग की खोज में था जो व्यक्ति की आत्मा में एक बार सुलग उठने पर फिर कभी बुझता नहीं है । असहाय, निम्नवर्ग के लोगों का जागरण उसका धर्म और लक्ष्य बन गया । कबीर समझता है कि जनता प्यास को जाननेवाले हैं लेकिन पानी को वे जानता नहीं । वे प्रेम प्राप्त करने के लिए भटकते हैं और अलग अलग मनोरंजन में मुग्ध होते हैं । इस तरह की अज्ञानी जनता के बारे में उनका यह वक्तव्य सही ही है । "लोग ज़िन्दगी की बातें करते हैं और मौत में रहते हैं ।"[2]

गरीबों के प्रति अत्याचार उच्चवर्ग की एक नीति ही है ।

---

1. इकतारे की आँख - पृ. 40 - मणि मधुकर
2. इकतारे की आँख - पृ. 36 - मणि मधुकर

काशी नगर में भी गरीबों को आतंकों का सामना करना पडा । कबीर के माँ-बाप की मृत्यु भी इस प्रकार के अत्याचार के कारण हो गयी थी । कबीर का बाप नूरा बुने हुए वस्त्र बिकने के लिए बाज़ार गया और वहाँ माल के भाव के बारे में एक ब्राह्मण बनिया से वाद विवाद हुआ । बनिये ने जब यह आरोप लगाया कि नूरा उसे गालियाँ दी है तो अन्य लोगों ने उस बूढे को मार पीट कर उसकी हत्या कर दी । इस घटना के पश्चात जुलाहों ने बनियों को माल नहीं बेचने का और सीधे ग्राहकों को बेचने का वादा लिया । इस पर क्रुद्ध होकर जुलाहों की बस्ती में रात में एक बनिया द्वारा आग लगा दी जाती है । और उस आग में कबीर की माँ भी मर जाती है । मरते वक्त नीमा ने रैदास से कबीर को यह सन्देश दिया कि "तुम उसे बतलाना कि हम कैसे जिन्दा रहे कैसे मरे लेकिन हारे नहीं ।"[1]

कबीर को अपने जीवन के अनुभवों ने ही अन्याय के खिलाफ लडने के लिए शक्ति प्रदान की । उसे न किसी से द्वेष था और न किसी से स्नेह का अतिरेक भी । इसलिए उसने कहा

"कबिरा खडा बाज़ार में
सबकी माँगे खैर
ना काहू से दोस्ती
ना काहू से बैर ।"[2]

---

1. इकतारे की आँख - पृ. 39
2. इकतारे की आँख - पृ. 60

कबीर आदमी-आदमी के बीच भेदभाव नहीं देखना चाहता । इसलिए इसको बढावा देनेवालों की उसने सख्त आलोचना की । पुजारी की रथ यात्रा को वह अडचन पहुँचाता है और गुस्से में आकर पुजारी रथ को कबीर के ऊपर से निकाल देता है । वह हमेशा मानव प्रेम का उपासक रहा । यह कवित्त उसका नमूना है ।

"गलत को गलत कहो
गलत का विरोध करो
जात-पांत तोडकर छेडो सब एक तान
मानुष-मानुष एक समान ।"[1]

कबीर की इस तरह की घोषणा से मजहबी लोग घबराते हैं । वर्ण व्यवस्था के अनुयायी कूद निकलते हैं । कोतवाल धर्म द्रोही कबीर को गले में पत्थर बांधकर गंगा में डुबोने की आज्ञा देता है । लेकिन कबीर को चाहनेवाले मल्लाह और मछुआरे उसकी रक्षा करके उसे एक सुनसान किनारे में पहुँचाते हैं । जब कोतवाल को इसकी खबर मिलती है तो उसने उसे सरेआम सूली पर लटकाने का आग्रह किया । लेकिन काशी राजा ने उसे रोक दिया क्योंकि यदि ऐसा हो जाय तो निम्नवर्ग के लोगों के एकत्रित होकर प्रतिशोध करने की संभावना है ।

पंडितवर्ग समाज में वर्ण व्यवस्था को ईश्वर की देन मानते थे । कबीर के अनुसार ईश्वर का नाम रटने से कोई फायदा नहीं, उपासना

---

1. इकतारे की आँख - पृ. 60

के लिए राम और अल्ला की आवश्यकता नहीं । जैसे "राम राम और अल्ला अल्ला का जप करने से कुछ नहीं होगा । क्या गुड गुड बोलते रहने से मुँह मीठा हो जाता है ।"[1] कोतवाल के सिपाहियों का आरोप भी यह रहा कि कबीर न रामायण को मानता है और न कुरान को । वह पंडित मुल्लाओं को भी गालियाँ देता है । उनकी राय में "यह लोगों के दिमाग में आज़ादखयाली के बीज बोता है ।"[2] इसकी बातों में आकर लोग अनिष्ट कर रहे हैं और एक मुहल्ले के लोगों ने मस्जिदों की तामीर, पूरा करने में मदद भी नहीं दिया । और कुछ लोगों ने मन्दिर में घुसने की कोशिश की ।

कबीर सजाओं से डरता नहीं था । कोतवाल अमन बनाये रखने के लिए कबीर को मौत की सजा देना चाहता है लेकिन कबीर इससे भी डरता नहीं । उसे दृढ़ निश्चय था कि इस प्रकार होने पर निम्नजाति के लोग खामोश न बैठेंगे । वे अन्धकार से बाहर आ गये हैं । यह कथन इसका प्रमाण ही है । "मेरे सिर उडा देने से कोई फर्क नहीं पडेगा । सब का घडा भर चुका है । सताए हुए लोगों के दिलों में रोशनी पैदा हो चुकी है । यह रोशनी जब फूटकर बाहर आएगी तो तुम्हारी आँखें चौंधिया जाएगी ।"[3] कबीर के विश्वास के अनुसार जनता कोतवाल और सिपाहियों से जूझती है जब वे कबीर को कोल्हू में पील देने की आज्ञा देता है । उनमें भिश्ती, गाडीवान ठठेरे, बढई, जीनसाज, लुहार, बुनकर रंगरेज आदि समाज के

---

1. इकतारे की आँख - पृ. 67
2. वही - पृ. 73
3. वही - पृ. 74

विभिन्न वर्ण और वर्ग के लोग मौजूद थे । जिन्हें देखकर अधिकारी वर्ग खिसककर चला जाता है ।

जीवन भर में कबीर जिस लक्ष्य के लिए काम करता रहा उस लक्ष्य की पूर्ति में वह सफल हुआ । ज़ाहिर है कि शासक वर्ग के अत्याचारों का अतिक्रमण करते हुए मानव की एकता और धार्मिक क्षेत्र के भ्रष्टाचार को प्रकाश में लाते हुए वह एक निडर एवं मानवीय व्यक्तित्व का परिचय देने में समर्थ निकला है ।

नरेन्द्र मोहन का नाटक "कहै कबीर सुनो भाई साधो" भी कबीर की जीवनी को लेकर लिखा हुआ है । उसके विद्रोहात्मक अडिग व्यक्तित्व को ही अन्य रचनाकारों के समान इन्होंने भी उभारा है ।

यह नाटक लोकनाट्य शैली में लिखा हुआ है । गायक और गायिका एक ओर वर्तमान युग की आम आदमी की त्रासदी का चित्र प्रस्तुत करते हैं और दूसरी ओर 600 साल पुरानी कबीर की जीवनी को प्रस्तुत करके उस विद्रोहधर्मिता की आवश्यकता की ओर इशारा करते हैं । इस संदर्भ में प्रताप सहगल का यह कथन उल्लेखनीय ही है । "कबीर का विद्रोही व्यक्तित्व, उसकी कविता की आँच, उसके दर्शन की प्रखरता हमें बाँधती है ।

हम कबीर को 600 साल पुराना मानने से इनकार करने लगते हैं और उसे विद्रोह करते हुए अपने आसपास ही पाते हैं । शायद वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि 600 साल पहले था और शायद इसी कारण नरेन्द्र मोहन ने भी कहे कबीर सुनो भाई साधो नाटक लिखा ।"[1]

समाज में श्रेणी विभाजन आज भी मौजूद है जिस प्रकार पुराने ज़माने में था । निम्नवर्ग के अनपढ़ एवं अज्ञानी लोगों को उच्चवर्ग एवं अधिकारी वर्ग अब भी सताते रहते हैं । अपनी वर्दी के बल पर मानव, मानव के ऊपर कुछ भी कर सकता है । आज भी ज़मीन्दार के कारिन्दों उन पर अत्याचार करते रहते हैं । यहाँ तक कि समाज में आजकल एक जाति दूसरी जाति के खून की प्यासी बन गये हैं । इसी प्रकार की शिकायतें करते हुए आनेवाले लोगों से गायक गायिका कबीर के समान विद्रोहात्मक व्यक्तित्व को अपनाते हुए अन्याय के खिलाफ लडने की प्रेरणा देते हैं । जैसे "हाँ ऐसा हुआ था बहुत पहले । ऐसा हुआ था उसके बाद में । ऐसा ही हुआ है आज - शोषण और अत्याचार की क्रूर श्रृंखला । मन की आँखें खोले, रे मूर्ख मन की आँखें खोलकर लडना होगा ।"[2] लेखक ने यहाँ कबीर की प्रासंगिकता तथा उस व्यक्तित्व को युग की एक माँग के रूप में दिखाने की चेष्टा की है ।

कबीर का व्यक्तित्व ऐसा एक निडर निर्भीक का था कि

---

1. इंडिया टुडे - 31 दिसंबर 1987 - पृ. 87
2. कहे कबीर सुनो भाई साधो - पृ. 20 - नरेन्द्र मोहन

जहाँ कहाँ उसने अधर्म और अन्याय देखे वहाँ उसने अपना कटु विरोध प्रकट किया । वह काशी की निम्न जाति का एक जुलाहा था । काशी में भिन्न भिन्न धर्मों के बीच का असन्तोष, धार्मिक आडम्बरों में डूबे हुए पाँडे-मौलवी और आपस में वैर रखनेवाले हिन्दु मुसलमान समाज में जनता को आपस में लडभिडाते थे । जातियों की भिन्नता की दुहाई देकर ये लोग मानव मानव में खाई पैदा कर रहे थे जिसके विरुद्ध कबीर ने आवाज़ उठायी । ढोंगी धार्मिक नेता जैसे मुल्ले, पाण्डे और महन्तों की उसने अपने कवित्तों के ज़रिए कटु आलोचना की । अपने कवित्तों को गाकर उसने जातिभेद और वर्गभेद की दीवारों को तोडना चाहा ।

गरीबों की दीनता कबीर के लिए खुद की दीनता थी । बिना कपडे के चिथडों को पहने एक गरीब को वह बिकमे लाये अपना पूरा ध्यान सौंप देता है साथ ही साथ ढोंग रचकर भक्ति की आड में मानव के लिए किसी भी भलाई नहीं करनेवाले सन्त-साधुओं की खिल्ली उठाता है । एक तिलकधारी साधु को देखते वक्त कबीर उसे धूर्त, पाखण्डी, लोभी और लम्पट कहते हैं क्योंकि उसके अनुसार ये लोग टोकरे भी पेडे गटक देते हैं । बर्तन माँजकर ऊपर खाना खाते हैं कि कहीं भोजन पर किसी का छाया न पड जाए । ये पाखण्डी धर्म के नाम सुखसुविधा भोगते लेकिन दीनों पर दृष्टि नहीं डालते । इसलिए ढोंग रचनेवाले साधुओं और मुल्लाओं पर वह अपने कवित्त द्वारा प्रहार करता है । जैसे -

"आज एक कवित्त बनाया है सुनो.....
न जाने तेरा साहब कैसा है ।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे
क्या साहब तेरा बाहरा है
चिउंटी के पर नेवर बाजै,
सो भी साहब सुनता है ।
पंडित होय के आसन मारे, लंबी माला जपता है ।
अन्तर तेरे कपट करतनी सो भी साहब लखता है ।
ऊँचा नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है ।"[1]

साधुओं की करनियों को गलत कहने के कारण समाज के ये वरेण्य वर्ग कबीर पर कभी कभी आक्रमण करते हैं क्योंकि समाज में जनता के बीच भिन्नतायें रखना उनकी एक जिम्मेदारी है । इससे ही जीवन की सुख सुविधायें वे प्राप्त करते हैं । जब तिलकधारी साधु को पता चलता है कि वह कबीर जुलाहा है, जिसने कवित्त बनाया तो वह उसे कमीनी जातवाला अपने धर्म पर कीचड़ उतारनेवाला कहकर गालियाँ देता है । कबीर उसको छूता है तो वह भटक उठता है और अन्य साधुएँ भी आकर कबीर पर आक्रमण करता है । साधुजन कबीर और उनके अनुयायियों पर कोड़े बरसाते हुए यह घोषणा करते हैं कि वे कबीर को ज़िन्दा नहीं छोड़ेंगे । कबीर के मत में जीव की हत्या करनेवाले कसाई है वे मुनि नहीं कहलाते हैं । इस प्रकार सच को कुचलनेवाले, धर्म के नाम पर खून खराब करनेवालों के प्रति बिना डर से वह बोलता रहा । क्योंकि कबीर समझता है कि ये लोग नादान हैं, ये लोग वास्तविकता नहीं जानते हैं ।

---

1. कहै कबीर सुनो भाई साधो - पृ.25

काशी नगर में रोज़ इस प्रकार निम्नवर्ग के ऊपर अत्याचार होता है । पीढ़ियों से साधु, मुल्ला और तुर्क जनता का शोषण करते रहते हैं । वे कभी कभी शासक वर्ग की सहायता के साथ अपना उल्लू सीधा करते हैं । कबीर के अनुसार काशी का कोतवाल मांस का लोभी गिद्ध के समान है और साधु लोग एवं तुर्क एक ओर महंतों के अखाड़ों और अड्डों पर शक्ति बटोरते हैं और दूसरी ओर कोतवाल के इशारे पर नाचते है । कोतवाल द्वारा नाटककार ने शक्तिशाली अधिकारी वर्ग का उत्तम नमूना प्रस्तुत किया है । वह बिना किसी सबूत के चोरी, डकैती का आरोप निम्न जाति के लोगों पर मढ़ा देता है और उन्हें बस्तियों से पकड़कर ले जाता है । इन अत्याचारों के प्रति खड़े होने के लिए कबीर अनुयायियों को आवेश देता है और आततायियों की करतूतों को उघाड़ने का तथा सत्य और प्रेम के रास्ते पर चलने का आदेश भी ।

जनता में एकता का भाव पैदा करने के लिए और विभिन्न धर्मों के बीच के वैमनस्य को दूर करने के लिए कबीर साधु लोगों से मिलकर सत्संग चलाता है । इस प्रकार धार्मिक मत भेदों को हटाने का प्रयास करने की वजह से पंडित मुल्ला उसकी जान लेने के लिए पीछे पड़ते हैं । कबीर के माँ-बाप को भी यह समझ में नहीं आता कि कबीर क्यों दूसरों के तौर तरीके, रहन सहन और कर्मकांड में दखल देता है । नीमा उसे मज़हबी लोगों से मत पड़ने का उपदेश देती है क्योंकि वह जानती है कि ये पंडित मुल्ला ऊँचे लोग है और बड़े लोग कुछ भी कर सकते हैं । यह सब जानते हुए भी कबीर का मन अनीति और अन्याय के सामने सिर झुकाना नहीं जानता वह स्वयं प्रश्न करता है कि ईश्वर ने सभी को समान बनाया है तो फिर एक दूसरे के

बीच असमानता कहाँ से आ गयी । अनीति के खिलाफ आवाज़ उठाना उसने अपना फर्ज़ ही समझा । पुत्र कमाल और पत्नी भी उसके कर्मों का समर्थन नहीं करते हैं । इसलिए वह घर छोडकर चला जाता है । घर-परिवार, सगे-संबंधी से बढकर कबीर निरीह मानवता के उत्थान पर ज़ोर देता है ।

देश में हर कहीं वह सत्संग चलाने के लिए अपने अनुयायियों को भेजते हैं । अपने कवित्तों से सारी जनता को ज्ञान प्रदान करना और उसे समाज में ताकत से जीनेलायक बना देना उनका लक्ष्य रहा । मगहर में सत्संग चलाकर आनेवाले बोधन और बिजली खाँ वहाँ के महामारी, भुखमरी और अकाल के बारे में सूचना देते हैं । कबीर उन लोगों के लिए कुछ करना चाहता है । इसलिए दिल्ली के सुलतान सिकन्दर लोदी को इस बात की जानकारी देने के लिए बोधन और बिजली खाँ दोनों को सत्संग कराने के बहाने दिल्ली भेजता है । लेकिन वज़ीरों ने जब बोधन को जलसे में लोगों को भटकानेवाला और बगावत की बातें करनेवाला कहलाया तो सुलतान उसके सिर उडा देने की आज्ञा देता है ।

विद्रोही व्यक्तित्व को आघात पहुँचाने के लिए उनके सगे संबंधियों पर आतंक करना सहज ही है । कबीर को चेतावनी देने के लिए बोधन की हत्या की थी । लेकिन इससे कबीर पीछे हटना नहीं चाहता । कबीर इस घटना से उत्तेजना पाकर लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है । उनके दृष्टिकोण इन शब्दों में मुखरित है "बलिदान ही एकमात्र रास्ता है ।

कबीर निर्भीक व्यक्तित्व का स्वामी है । गलती को गलती कहने का साहस उसमें निर्भर था । सिकन्दर लोदी के दरबार में आकर वह उसे सलाम नहीं करता और यह भी कहता है कि जो दूसरों का दुख दर्द जान सकते हैं, वे ही पीर होते हैं । बाकी सब काफिर है । सिकन्दर लोदी को वह हत्यारा कहता है क्योंकि उसने जीवों को मार डाला है । सम्राट उसे आँखों से हटाने का आदेश देता है ।

धार्मिक नेता ही समाज सुधारक व्यक्तित्वों का हमेशा विरोध करनेवाले हैं । कबीर को खतम् करने के लिए उसे किसी चाल में फँसाने की वे योजना बनाते हैं । काशी में कबीर को दबाने के उद्देश्य से कोतवाल ने उसके हाथ पैर बाँधकर नदी में डुबाया ; उसे जिन्दा आग में झोंका दिया गया और उसे मस्त हाथी के सामने डाल दिया गया । लेकिन कुछ भी न बिगड सकता है । धमकी के रूप में उसके साथियों को मार डाला, इन सभी हरकतों का भी कोई असर कबीर पर न पडने के कारण वे ऐसा एक चाल चलाता है जिससे कबीर पर लोगों का विश्वास छूट जाता हैं । रमजनिया को कबीर का रखैल कहकर साधुओं और तुर्कों ने समाज को उसके खिलाफ खडा कर देते हैं । फिर भी उस निडर, निराले व्यक्तित्व को वे कुछ नहीं कर सकते हैं ।

कबीर का जो इतिहास है वह वर्तमान का हैं । सत्य, न्याय के लिए, शोषण और उत्पीडन के खिलाफ लडनेवाला कबीर युग की सीमा को लांघता है । इसलिए नाटककार ने कहा कि "कबीर पर सोचते

और लिखते हुए मैं वर्तमान से छलांग लगाता हूँ इतिहास में और इतिहास से पुनः वर्तमान की विभीषिका में अपने समय और युग में । कबीर और उनसे जुड़े समय और इतिहास अध्ययन करते हुए मैं बार बार अपने समय और युग में लौटा हूँ ।'[1]

कबीर संबंधी इन तीनों नाटकों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ये तीनों नाटककार मानवता के हितैषी बनकर हमारे सामने आये हैं । मध्यकालीन परिस्थितियों में धर्म और व्यवस्था द्वारा आम जनता जितनी पिसती जा रही थी वही आज भी हमारे इर्द गिर्द देखने को मिलते है । कबीर ने सत्य, न्याय और धर्म के लिए शोषण, धार्मिक-सांप्रदायिक अत्याचार और रूढिवादिता के खिलाफ कदम उठाया । उन्होंने इस मुद्दे को उठाया कि मानव की महत्ता उनके जाति, बिरादरी और धर्म संप्रदाय के आधार पर कभी नहीं उसके महान कर्म के आधार पर है । युगों के बीत जाने पर भी कबीर का नाम आदर और सम्मान के साथ इसलिए लेते हैं कि वे मानवता के पूजारी थे, सच्चे अर्थ में उपासक थे । आज हमारे चारों ओर जो मारकाट तथा मानव और मानव के बीच जो दीवारें है वह मध्यकालीन माहौल से ज़रा भी पीछे नहीं । इस स्थिति में विद्रोही कबीर एक अगुआ बनकर आये थे । तीनों नाटककारों ने इस बात पर ज़ोर दिया है,जैसे इस पार्थक्य को मिटाना है तभी मानव विश्वमानवता के विस्तृत प्रांगण में आपस में गले मिलेंगे ।

---

1. कहै कबीर सुनो भाई साधो - लेखकीय वक्तव्य - नरेन्द्र मोहन

पुराण में कलंकी अवतार का जो मिथक है उसको अपनाते हुए लक्ष्मी नारायण लाल ने "कलंकी" नामक नाट्यसृष्टि की । धर्म तंत्र की आड में जनता को बहकावा देकर उसे मूक बनाते हुए शासन को बनाए रखनेवाले शासक को तथा इन मिथ्याचारों से स्वतंत्र होकर यथार्थ बोध एवं आत्मबोध को जनता के सामने पर्दाफाश करनेवाले व्यक्तित्व को इसमें लाल ने समाविष्ट किया है ।

सहज रूप से ही धर्म में आसक्त रहनेवाले लोगों को और भी अन्धा बनाकर धार्मिक कर्मकाण्ड में बाँधनेवाली शक्तियाँ आज भी समाज में मौजूद है । नाटक में राजा अकुलधेम ऐसे एक निरंकुश शासन का मिज़ाल है, जो जनता के ऊपर आतंक को बनाता रहता है । अपने हाथों से अधिकार को गँवाना वह नहीं चाहता और इसलिए झूठे धार्मिक तंत्रों के सहारे जनता के बीच मिथ्याओं का प्रचलन करता है । जनता में तोड विचार की क्षमता न रहे और हमेशा वे प्रश्नहीन ही बने रहे यही उनका मकसद है । जनता की धर्म भीरुता से लाभ उठाते हुए वह कलंकी रूपी मिथ्या कल्पना में उसे फंसा देता है । आम आदमी उस कल्पना में यह विश्वास कर बैठता है कि किसी न किसी दिन कलंकी उसकी रक्षा के लिए ज़रूर आ जाएगा । इस संदर्भ में डा. सुषम बेदी का कथन ठीक लगता है कि "कलंकी नगर के लोग उस अवतार की प्रतीक्षा में ही सारा जीवन बिता देते हैं । कोई प्रश्न नहीं करते क्योंकि उनके शासक ने उन्हें अपने अनुरूप ढाल दिया है । और उन्हें आलसी अज्ञानी अन्धविश्वासी और परिवर्तन से भयभीत बनाकर वह अपना उल्लू सीधा करता रहता है ।"[1]

---

1. हिन्दी नाट्य : प्रयोग के संदर्भ में - पृ. 186

प्रश्नहीन, चेतनहीन और धार्मिक खोखलेपन में डूबी अकर्मण्य जनता को लाल ने कृषकों तथा स्त्रियों द्वारा दर्शाया है । वे सदा कलंकी रूपी आनेवाली शुभ चिन्ता में मग्न रहते हैं । वे मानवहित के लिए कलंकी अवतार की साधना करनेवाले अवधूत को महासिद्ध समझते हैं । वे यही विश्वास करते हैं कि एक सहस्र शवसाधना पूर्ण होते ही कलंकी अवतार आयेगा और उससे सारा देश धन धान्य से भर जाएगा, रोग अन्धकार आदि मिट जाएगा और इस धरती पर सतयुग लायेगा । सोचना विचारना उनके लिए व्यक्तिगत विषय नहीं है और वे शंका करने से डरते हैं । एक कृषक के इन शब्दों से यही व्यक्त होता है । "सुना है, शंका हमारे पूर्वजों ने की थी ; गरुड़ ने काकभुशुंडि से पूछा था, सबसे भयंकर पाप क्या है ? यही शंका करना । युधिष्ठिर ने सर्प से यही शंका की थी..... मृत्युकाल में मनुष्य शरीर तो यहीं त्याग देता है .....।"[1] शंकाओं और प्रश्नों से दूर होकर जनता अवधूत एवं तांत्रिक के माया जाल में फँसकर जीवन बितानेवाले हैं ।

अकुलधेम का पुत्र हेरूप एक स्वतंत्र विद्रोहात्मक व्यक्तित्व रखनेवाला है । धर्म तंत्रों को अन्धे गह्वरों में फँसी जनता की मुक्ति का हितैषी बनकर लोगों को स्वयं सोचने समझने का आदेश देता है । अवधूत को मुँह खोलकर सामने आने के लिए वह ललकारता है । जनता को यथार्थ से बैलों की तरह हाँककर अयथार्थ के जंगल में डाल देनेवाली सत्ता की कूटनीति से वह बचपन से ही अवगत था । पिता अकुलधेम के अत्याचार के खिलाफ प्रश्न करने

---

1. कलंकी - पृ. 42 - लक्ष्मी नारायण लाल

के कारण उसे पढाई के बहाने विक्रमविहार भेजा था और वहाँ प्रश्नहीन बनाने के लिए कई यातनाओं से सताता रहा । लेकिन वापस लौटकर वह जनता को मुक्ति देने की प्रयास में लीन होता है । वह अवधूत की बातों में वशीभूत नहीं होता और पुरपति सामन्त भी नहीं बनना चाहता बल्कि मात्र हेरूप ही बनकर जनता का नेतृत्व करना चाहता है । वह जानता है-जनता का विश्वास अन्धा है और अप्राप्य है, उसके इस वक्तव्य में यही उभर आता है । "ओह ! उसने तुम्हें कुछ भी नहीं जानने दिया । अपने इन्द्रजाल में फँसाकर जो नहीं है, वह प्रकट किया, जो अप्रासंगिक है, उसे प्रसंग बनाकर तुम्हारे कंठ में बाँध दिया ।"[1]

अवधूत अपने को मिटाना नहीं चाहता है इसलिए जनता में जागरण के बीज बोनेवाले हेरूप को पहले प्रलोभनों में और बाद में पुरपति सामन्त बनाने का झूठा अभिनय करके अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता है । तांत्रिक ने अपने मायाजाल में फँसाकर उसे अज्ञानी कटुभाषी मूग बना दिया और उसमें पापभय उत्पन्न करने की चेष्टा की । लेकिन तांत्रिक का आक्रमण करते हुए वह जनता को आत्मबोध देता है । अपने विद्रोहात्मक व्यक्तित्व को इस कथन में वह प्रकाशित करता है । "जीवन में सभी मूग समान थे और सभी समान रूप से बोधिसत्व के अधिकारी थे ।"[2] लेकिन अकर्मण्य, भयग्रस्त, अज्ञानी जनता में जागृति उत्पन्न करने के कारण उसे पुन: विक्रम विहार भेजा गया और उसकी हत्या की जाती है । उसके

---

1. कलंकी - पृ. 6 - लक्ष्मीनारायण लाल
2. कलंकी - पृ. 53-54 - लक्ष्मी नारायण लाल

विद्रोहात्मक व्यक्तित्व को डा. सुरेश गौतम ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि "अपने पिता के प्रति पूर्ण विद्रोही पुत्र हेरूप नवयुग की नवजागृति एवं अक्षुण्ण स्वतंत्र चेतना का प्रतीक है। कलंकी नगर का वह प्रथम व्यक्ति था जिसने मानव विवेक को प्राथमिकता देकर शव के स्थान पर मानव की साधना का विद्रोह किया।"[1]

जनता को भटकानेवाले धर्मतंत्र के प्रतीक हैं तांत्रिक। वह जनता को अपने आतंकों की छाया में भयभीत बनाकर शव के समान जड़ बना देता है। तांत्रिक मायाजाल के चंगुल में फँसाकर उसे प्रतिक्रियाहीन बनाते हुए अन्धा अनुकरण करने के लिए विवश करा देता है। हेरूप के अभिषेक के समय वह तारा को गगनतुला में तोलकर अपवित्र बताता है और पवित्र बनाने के लिए अनेक यातनायें देता है। उसकी राय में वह शव साधना यथार्थ परिवर्तन के लिए कर रहा है। अवधूत कभी न मरनेवाली स्वेच्छाचारी सत्ता का प्रतीक है। मानव की कमज़ोरियों से वह सदा लाभ उठाती है। प्रश्न करनेवाले वृद्ध को वह मार डाला और शव साधना के नाम पर निरीह लोगों की हत्या करता रहता है। एक स्त्री के वक्तव्य से उसकी यह चाल नज़र आता है।

"तू ने हमारी सन्तानों को महामारी, अकाल, युद्ध से मार-मारकर शव साधना की।"[2]

अपने खिलाफ उठनेवालों को वह कभी भी जीने नहीं देता, तारा के इन शब्दों से यह लक्षित होता है। "हम में जैसे ही कुछ महत और शुभ जन्म लेने लगता

---

1. सातवें दशक के प्रतीकात्मक नाटक - पृ. 102 - रमेश गौतम
2. कलंकी - पृ. 56 - लक्ष्मीनारायण लाल

है कोई सहसा उसे काट देता है ।"[1] अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए वह सदा जागरूक है और इस कारण जनता को मुक्ति का मार्ग दिखानेवाले हेरूप को अपने मार्ग से हटा देता है ।

निश्चय ही लक्ष्मीनारायण लाल का यह नाटक धर्मतंत्र से जनता को झुठलाकर उसमें नयी चेतना एवं सत्यबोध उत्पन्न करनेवाले एक विद्रोही व्यक्तित्व का पर्दाफाश करने में समर्थ निकला है । नाटक के मिथकीय आधार के बारे में उन्होंने कहा है "एक ओर मेरे समक्ष संक्रांतिकालीन नवीं-दसवीं शताब्दी की लोकचेतना अपने चेतनापरक बिंबों में उभर रही थी ; और उसके बीच से अब तक प्रवाहमान कालखण्ड तथा अनेक ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशिष्टताओं तथा सामान्य स्थितियों को समेटे कुकुरमुत्तों की तरह सिर उठा रहे थे, कि मुझे उन्हें नकारना अन्याय-सा लगने लगा । वे मानो मुझसे कहते थे कि क्या हम तुम्हें केवल मध्यकालीन लगते हैं ? क्या हम आज भी तुम्हारे चारों ओर नहीं बिखरे हुए हैं ?..... इस तरह जब धीरे धीरे मैं इस अन्धेरे में और गहरे उतरता गया, तो लगा कि हमारा सारा इतिहास, धर्म भय, अन्धविश्वास, मानव कर्मकांड सब हममें वर्तमान है ।"[2]

लक्ष्मी कान्त वर्मा का नाटक "सिन्दुरदान" गीत गोविन्द की रचयिता जयदेव की जीवनी संबंधी एक किंवदन्ति पर निर्भर है । वर्मा जी इस नाट्यकृति के ज़रिए धर्म के पाखण्डी बनकर मनुष्यता को खो बैठनेवाले

---

1. कलंकी - पृ.23 - लक्ष्मी नारायण लाल
2. कलंकी - कलंकी रंगमंच का प्रसंग - लक्ष्मी नारायण लाल

धार्मिक आचार्यों का तथा उसके विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले निर्भीक व्यक्तित्वों का परिचय देते हैं ।

मौजूदा परिस्थिति में समाज में यही प्रथा चलती है कि हर एक धार्मिक नेता धर्म की आड में लोगों को बहकावा देता रहता है । आम जनता को अपना गुलाम बनाकर वे अपनी अपनी स्वार्थपूर्ति करते हैं । मानव के उद्धार के विरुद्ध वे उसे सदा भ्रम में डालकर धार्मिक बन्धनों में अधिकाधिक जकडा देता है । जनता को अपने ऊपर जो श्रद्धा एवं भक्ति है उसे बनाये रखना उनकी एक आवश्यकता ही है । नहीं तो वह अपने सुख सुविधाओं तथा अधिकारों से वंचित हो जाएगा । धर्म के नाम वे ढोंग रचते हैं और समाज में अन्धविश्वास और अनाचारों को फैलाते हैं क्योंकि वे जानते है कि अन्धविश्वासों से मुक्ति पाने पर जनता के ऊपर उनका चाल नहीं चलेगा ।

लक्ष्मीकांत वर्मा अपने नाटक में आचार्य सत्यदर्शन के द्वारा ऐसे एक ढोंगी धार्मिक नेता को सामने लाये हैं । आम जनता में से किसी की भी करनी या कथनी उसके विरुद्ध हो जाय तो वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सकता है । प्रार्थना के समय तिन्दुबुलम के गीत का आलापन उसे क्रुद्ध बनाता है । उस गीत को अनुचित कहने से अधिक झूठी मान्यताओं को नकारनेवाला तिन्दुबुलम का व्यक्तित्व ही उसे अखरता है । वह परंपरा से चले आनेवाले संकुचित दायरे से बाहर नहीं आना चाहता । तिन्दुबुलम के गीत के प्रति उनका यह विज्ञापन इस बात का प्रमाण है ।

"भूदेव ! यह गीत कैसा है ? यह नृत्य कैसा है ! आज का दिन पावनता का है, इस गीत में आत्म विज्ञापन है, यह प्रार्थना नहीं, तिन्दुवुलम की कुत्सित मनोवृत्ति से निकला हुआ विष है । बन्द करो यह गीत देवता की यह प्रार्थना स्तुत्य नहीं । भूदेव ! बन्दी कर लो इस तरुण दुस्साहसी विद्यार्थी को, जिसने देवदासी पद्मावती को यह गीत सिखलाकर प्रार्थना के स्वर में अपना अहंकार प्रकट किया है ।"[1] नाटककार ने यहाँ समाज का संपूर्ण धार्मिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर मढा देनेवाले एक धर्माध्यक्ष के व्यक्तित्व की ओर संकेत किया है । आचार्य ने प्रार्थना गीत को अनुचित मानने के कारण रथयात्रा के साथ जो पूजन चलता है उसे रोक दिया । ये लोग अनुयायियों को मात्र अपनी आज्ञा का पालन के लिए मानते हैं और यदि कोई उसके खिलाफ प्रकट हो जाय तो उसे कुचला दिया जाता है । उसके इस कथन में वह अपनी महत्ता एवं अधिकार सिद्ध कर देता है ।

"महापाप..... पाप और पुण्य की परिभाषायें हमारी बनाई हुई हैं वत्स ! हम निरपेक्ष है । इसलिए उनके निर्माण भी करते हैं । तुम्हारा कार्य है मात्र अनुकरण । धर्म के पक्ष को संतुलित रखना हमारा कार्य है । उसे स्वीकार करना तुम्हारा । मैं कहता हूँ यह गीत बन्द करो ।"[2]

समाज में अपने को एक उच्च शक्ति मानने की वजह वह निर्भीक होकर अन्याय करने को भी नहीं हिचकता । आचार्य के प्रति शंका करना वह आचार्यत्व का अपमान समझता है । लेकिन विद्रोही नचिकेता यह

---

1. तिन्दुवुलम - पृ. 7 - लक्ष्मीकांत वर्मा
2. तिन्दुवुलम - पृ. 8 - लक्ष्मीकांत वर्मा

स्वीकार नहीं करता उसको राय में जो सोने के पात्र में भोजन करता है, हीरक जटित सिंहासन के गुलगुले गद्दों पर बैठकर मिथ्यातर्क उपस्थित करता है, उसे तिन्दुवुलम के गीत का अपमान नहीं करना चाहिए । क्योंकि तिन्दुवुलम हमेशा कथित सत्य को व्यवहार में लाना चाहता है और ईश्वरीय सत्य का जीवन में साक्षात्कार करना चाहता है । इन कार्यों के बावजूद उसे आचार्य ने प्रताडनायें दी और मन्दिर से निर्वासित भी किया है ।

अपने खिलाफ प्रकट होनेवालों को कुचलना हर एक शक्ति की एक ज़रूरत है । आचार्य सत्यदर्शन गीत बन्द करने पर प्रतिशोध करते हुए उसके रथ के सामने लेटे हुए सैकडों लोगों को वहाँ से हटाने का आदेश देता है । और जब वे लोग हटने से इनकार करते हैं तो उनके ऊपर से रथ आगे चलाने की आज्ञा देता है । उनका लक्ष्य यह है कि रथ निश्चित समय पर पहुँच जाए और अनुष्ठान को भंग नहीं हो जाए । अपनी मर्जी के अनुसार वह लोगों को रौंदते हुए आगे बढता है । समाज में इन आचार्यों के शोषण के कारण जनता जितनी असहाय बनती है और प्रश्न करने पर वह किस तरह कुचला दिया जाता है उसका स्पष्ट चित्र नचिकेता के इन शब्दों में मुखरित है ।

"देवता का रथ गया है..... चीखना तो तुम्हारा कर्तव्य ही था..... चीखने में कोई अन्तर नहीं पडता.... चाहे जय जय के नारे लगाओ.... चाहे पहिये के नीचे दबकर चिल्लाओ दोनों स्थितियाँ समान है.... दोनों ही ईश्वर की पंगुता सिद्ध करती है उसकी मूकता को बल देती है.... चिल्लाओ और चिल्लाओ इतना कि बधिर ईश्वर भी सुन ले...."[1]

---

1. तिन्दुवुलम - पृ. 11 - लक्ष्मीकान्त वर्मा

धार्मिक कर्मकाण्डों एवं खोखलेपन में जकडकर व्यक्ति को सोचने विचारने तथा जीने का अधिकार खोना पडता है । नाटक में पद्मावती उसी प्रकार का एक बेसहारा और अन्याय भोगनेवाली देवदासी का अच्छा नमूना है । पद्मावती देवव्रत की पुत्री है जो महाप्रभु के लिए अर्पित की गयी है तथा आचार्य सत्यदर्शन द्वारा दीक्षित भी है । आचार्य सत्यदर्शन यह कामना करता है कि पद्मावती और पिता दोनों हमेशा अपनी आज्ञा का पालन मात्र करें । तिन्दुवुलम से पद्मावती का प्रेम वह मानता नहीं । और एक व्यक्ति के रूप में स्वतंत्रता से जीने का उसमें जो अधिकार है उसे छीनने की कोशिश करता है । व्यक्ति के अधिकारों को हडपनेवाले इन साधुजनों के छल कपटी व्यक्तित्व से पद्मावती को ऐसा एहसास होता है कि ये काषायवस्त्रवाले साधुजन ढोंगी ही हैं ।

नाटक में तिन्दुवुलम और नचिकेता दोनों ढोंग रचनेवाले धार्मिक पाखण्डियों के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले विद्रोही व्यक्तित्व है । नचिकेता और तिन्दुवुलम दोनों आचार्यों के कुकर्मों एवं बुरी मान्यताओं से अभिज्ञ हैं और इसलिए जनता को इससे मुक्त करना चाहते हैं । स्वतंत्र विचार के होने के कारण आचार्य सत्यदर्शन ने महाप्रभुओं के परिषद से नचिकेता को बहिष्कृत कर दिया था । तिन्दुवुलम को भी विधर्मी एवं नास्तिक कहकर वह सताता रहता है ।

तिन्दुवुलम मनुष्य की सहजता में ईश्वरीयता का दर्शन करता है । उसकी राय में आस्थावान मनुष्य को प्रतिकूल परिस्थितियों को

तोडकर आगे बढना चाहिए । वह पद्मावती से प्रेम करता है और उसको धर्म के झूठे बन्धनों को तोडकर जीने का उपदेश देता है । उसके अनुसार पद्मावती जिस राधा का अभिनय करती है उस राधा को जीवन का हर क्षण कृष्ण द्वारा दीक्षित है,: इसलिए कम से कम उस राधा के एक क्षण के शतांश को अपने आप में समेटना है । जीना मानवीय धर्म है । उसका यह कथन इस वास्तविकता का परिचायक है । "जीवन मात्र अभिनय नहीं है पद्मावती ! वह परिचालित नहीं स्वचालित है । उसकी गति, उसकी मुद्रा स्वाभाविक होती है ।"[1]

तिन्दुवुलम ईश्वर और मानव को पृथकता की दृष्टि से देखना उचित नहीं समझता । वह मनुष्य से ईश्वर तक पहुँचना चाहता है । उसके इस कथन में यही स्पष्ट होता है । "मैं महाप्रभु के सामने गाये जानेवाले गीत में और मनुष्य के सामने गाये जानेवाले गीत में कोई अन्तर नहीं समझता । ईश्वर और मनुष्य के पृथक करने की चेष्टा व्यर्थ है ।"[2] पद्मावती को वह यह आदेश देता है कि जिस देवालय में मनुष्य और ईश्वर के बीच खाई पैदा की जा रही है और जहाँ ईश्वर और मनुष्य के रागात्मक संबंधों की अपेक्षा मनुष्य को महाप्रभु के रथ के नीचे पीसा जा रहा है । उस देवालय में पद्मावती का नृत्य करना असंभव ही है ।

---

1. तिन्दुवुलम - पृ. 17 - लक्ष्मीकांत वर्मा
2. तिन्दुवुलम - पृ. 24 - लक्ष्मीकांत वर्मा

तिन्दुवुलम अपनी प्रेम को राधाकृष्ण के प्रेम के समान पावत्र मानता है । और वह समझता है कि इसे अशुद्ध कहनेवाले भ्रम में है । वह धर्म के पंजों से मानव की मुक्ति को चाहेता है । उसका यह कथन इसका समर्थक है । "मनुष्य को मनुष्य रहने दो । उसे सीमाओं में मत बाँधो ।"[1] तिन्दुवुलम के चारित्र के द्वारा लालने धार्मिक खोखलेपन और धर्माध्यक्षों के अहम् को नकारनेवाले व्यक्तित्व की ओर संकेत किया है ।

जिस प्रकार किसी भी धर्म संस्था के संस्थापक अपने विरुद्ध कायम रहनेवाला शक्तियों को मिटा देता है उसी प्रकार तिन्दुवुलम को भी धार्मिक अन्धेपन का शिकार बनना पडा । आचार्य को जब ज्ञात हुआ कि तिन्दुवुलम की प्रेरणा से ही पद्मावती ने मन्दिर में नृत्य करने से इनकार कर दिया तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता । पुत्री के बुरे व्यवहार से वह देवव्रत की निन्दा करता है । पद्मावती और तिन्दुवुलम को व्यवस्थापक परिषद की गोष्ठि के समक्ष दंड देने का निर्णय लेता है । धर्म परिषद के सामने उसने ऐसी आपत्ति उठायी कि तिन्दुवुलम ने महाप्रभु के देवालय की परंपरा को नष्ट किया है तथा उसने अपने वासनाभरी गीतों का प्रचार देवदासी पद्मावती के माध्यम से देवालय तक पहुँचाने की चेष्टा की है । धर्म परिषद के द्वारा तिन्दुवुलम को यह दण्ड दिया जाता है कि यदि अप्रत्याशित रूप से नगर में दिखलायी पडे तो उसे जिन्दा जला दिया जाएगा । साथ ही साथ पद्मावती को वे बन्दी बना देता है ।

1. तिन्दुवुलम - पृ.58 - लक्ष्मीकांत वर्मा

अडिग और आस्थावान व्यक्तित्व को सदा विषमताएँ भोगनी पड़ती है, तिन्दुवुलम को भी जीवन में यह भोगना पड़ा । लेकिन धार्मिक अन्धेपन से उपजी उस सजा को स्वीकार करने के लिए तिन्दुवुलम तैयार नहीं होता है । वह किसी आज्ञा से डरता नहीं और अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं से दूर भागना भी नहीं चाहता । इसलिए धर्म परिषद के सामने ऐसा एक प्रस्ताव रखता है जिसमें आचार्य सत्यदर्शन के प्रति विद्रोह भरा हुआ है ।

"तो यह भी सुन ले आचार्य सत्यदर्शन ! मैं यह नगर छोड़कर नहीं जाऊँगा । पद्मावती मेरी है । उसे चाहे जितने कड़े बन्धन में तुम बन्दी बनाकर रखो, वह मेरी होकर ही रहोगी । रोको आचार्य सत्यदर्शन तुझे साहस है तो रोको ..... मैं कायर नहीं आचार्य..... मैं सबसे कहता हूँ मैं अभी पद्मावती से मिलने जाता हूँ । रोको.... कोई रोको मुझे ।"[1] तिन्दुवुलम के इस आक्रोश में परंपरा की रूढ़िग्रस्तता पर चोट करनेवाले व्यक्तित्व ज़रूर लक्षित होता है ।

धर्म की जादुई ताकत अपने पंजे में से निरीह जनता को कभी बचने न देती । सदियों से यह सिलसिला ज़ारी रहता है । इस शोषण और शोषण मुक्ति के लिए काटछट व्यक्तित्वों का चित्रण मध्यकाल और तंत्रकाल के माहौल में इन नाटककारों ने आँका है ।

---

1. तिन्दुवुलम - पृ. 58 - लक्ष्मीकांत वर्मा

उपसंहार

अतीत साहित्य के माध्यम के रूप में चलता आ रहा है । सामयिक जीवन को व्यक्त करने के लिए और अपने आदर्शों, विचारों और उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए रचनाकार ऐसा करता रहता है । इसके दौरान इतिहास और पुराण के प्रयोग में थोडा अन्तर हम देख सकते हैं । लेकिन यह अन्तर स्वातंत्र्योत्तर काल में और भी स्पष्ट हुआ है । इसका मुख्य कारण परिवेश में आया परिवर्तन ही है । आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीकी व प्रौद्योगिकी उन्नति के साथ समाज की भौतिक प्रगति अवश्य हुई है । लेकिन इसके साथ ही मानव जीवन में समस्याओं का भरमार होती रहती है । सामाजिक जीवन में प्रतियोगिता हर कहीं हर पल में बढती रहता है । परिणाम स्वरूप मानव जीवन अधिक संकीर्ण एवं दुविधाग्रस्त होता है । मनुष्य अनिश्चय और अनिर्णय की भंवर में फँसकर किनारे की ताक में रहता है । इस भागदड में इन्सान इन्सानियत को भूलने को मज़बूर होते हैं । इन्सानियत दफनायी जाती है । संकुल मानसिकता एवं अनिश्चय नियति को संप्रेषित करने के लिए सामाजिक प्रतीक और बिंब कभी कभी असफल हो जाते हैं । रचनाकार आधुनिक संवेदना को संप्रेषित करने के लिए ऐतिहासिक पौराणिक बिम्बों और प्रतीकों को ढूँढने में उत्सुक नज़र आता है । उनका यह प्रयत्न अधिक सफल इसलिए होता है कि मनुष्य हमेशा अपने अतीत की गरिमाओं तथा कमज़ोरियों के प्रति भावात्मक संबंध रखता है । इस तरह नयी संवेदना को अभिव्यक्त करने में लेखक सक्षम होता है ।

स्वतंत्रता के पूर्व ऐतिहासिक-पौराणिक संदर्भों को लेकर नाट्य रचना शुरू की गयी । स्वातंत्र्योत्तर काल में इतिहास और पुराण के ज़रिए मानवीय स्थिति को नाटककारों ने अभिव्यक्त किया । ऐसा प्रयत्न उसके पूर्ववर्ती काल में नहीं हुआ है । पूर्ववर्ती नाटककारों ने मानवीय स्थिति के बजाय समाज की आवश्यकताओं पर ज़ोर देने के लिए इनका प्रयोग किया है । उनका ध्यान प्राय: घटनाओं और महान चरित्रों पर टिका रहा । जहाँ नये नाटककार घटना से लेकर चरित्रों का नाम तक अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग करते हैं । भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी इत्यादि के नाटकों के साथ नये नाटककार जैसे धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, आदि के नाटकों का अध्ययन करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा । इन नाटककारों ने मानव जीवन के हर एक पहलू को अभिव्यक्ति देने में सफलता प्राप्त की है ।

ऐसा माना जाता है कि राजनीति का गठन मानव संरक्षण के लिए हुआ है । लेकिन आधुनिक युग में राजनीति का लक्ष्य मानव कल्याण से हटकर स्वार्थता से जुडा हुआ है । स्वतंत्रतापूर्व और उसके बाद की भारतीय राजनीति में यह खास अन्तर लक्षित होता है । विभाजन, गाँधीजी की हत्या, राजनीतिक क्षेत्र से आदर्शों का गायब होना व्यक्तिगत लक्ष्यों का उदय आदि ने राजनीति को एक नया प्रतिमान दिया । देशी राजनीति उच्छृंखलता एवं मनमानीपन का अड्डा बन गयी । जनता आश्रयहीनता और आदर्श हीनता से भटकने लगी । आधुनिक राजनीति ने आम आदमी को जीवन की बुनियादी ज़रूरतों से वंचित रखा । स्वार्थपूर्ति में मग्न राजनीतिज्ञ

किसी-न-किसी प्रकार जनता से वोट पाने तथा उसके बाद शासन को बनाए रखने के लिए चाल चलते रहते हैं । वे सदा जनता को दबाकर रखते हैं क्योंकि प्रश्नहीन जनता से ही वे अपना मार्ग सुगम बना सकते हैं । शासन अपने हाथ से कहीं छूट न जाने के लिए वे चोरी, खून, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, बेवफादारी आदि को राह ढूँढते हैं । वर्तमान राजनीति के इस दबाव से कोई संस्था या व्यक्ति अछूता नहीं रह सकते हैं । यथार्थ को झुठलानेवाली जनहंता राजनीति के क्षेत्र में राजनीति के विषैले वातावरण का सही चित्र उसके तीखेपन के साथ प्रस्तुत करने के लिए सुदूर अतीत का सहारा लिया गया है । जगदीश चन्द्र माथुर ने राजनीतिक क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं का नक्शा "पहला राजा" नाटक में खींचा है । शासन की निरंकुशता, सत्ताधारी को अन्धा बना देता है । शोषण और अत्याचार करना वह अपना धर्म और अधिकार समझता है । दयाप्रकाश सिन्हा का "कथा एक कंस की" तथा लक्ष्मीनारायण लाल का "एक सत्यहरिश्चन्द्र" इसी तथ्य को सामने लाते हैं । सत्तामोह की भागदौड में जनता और देश को भूलकर शासन हथियानेवाले नेतावर्ग की रीति डा. लाल के "सूर्यमुख" में देखने को मिलता है । शासकवर्ग प्रजा की भलाई की आड में अपने और अपनेवालों की भलाई को ही तरजीह देते हैं । प्रजा को भूलकर अपने और अपनेवालों की भलाई की कामना करनेवाले और आपस में टकराकर अपने अस्तित्व को बनाए रखनेवाले शासकवर्ग का चित्र महाभारतीय प्रसंग पर "प्रजा ही रहने दो" नाटक द्वारा गिरिराज किशोर सामने लाए हैं । द्रोणाचार्य के पौराणिक व्यक्तित्व को उभारते हुए सत्ता द्वारा व्यक्ति पर किए जाने-वाले अत्याचार तथा उसके चंगुल से कभी न मुक्ति न पानेवाली प्रक्रिया को शंकर शेष ने "एक और द्रोणाचार्य" में व्यक्त किया है ।

शासन और कलाकार के बीच का संघर्ष समाज में अधुना मुद्दा तो नहीं है । अनुशासन पर अडिग रहकर व्यवस्था स्वतंत्रताकांक्षी व्यक्तित्वों के जीवन को बेडियों में बांधती है । मनुष्य के लिए व्यवस्था का आविष्कार हुआ है । लेकिन बाद में वही मनुष्य का बन्धन उपस्थित करता है । प्रजातंत्र में यह दबाव चल रहा है । प्राचीन काल से लेकर शासन कलाकार को आश्रय देता रहा । कभी कभी लगाव से और कभी कभी अपने यश की श्रीवृद्धि करने के लिए यह प्रक्रिया ज़ारी रही । आश्रय लेकर शासन की इच्छा के मुताबिक लेखनी चलानेवाले और उसके खिलाफ लेखनी चलाने वाले भी थे जो अपनी स्वतंत्रता को किसी के हाथों गिरवी रखने के लिए तैयार नहीं थे । अपने विरुद्ध ज़रा भी प्रकट होनेवाली शक्ति को सत्ता कभी बर्दाश्त नहीं सकती है, वह हमेशा उसे दबाने की कोशिश करती रहता है । इसलिए शासक और कलाकार का संघर्ष जिस प्रकार पुरातन काल में था उस प्रकार आज भी कायम हैं । इन दोनों के बीच अन्तर्द्वन्द्व एवं आत्मीयता दोनों शासक की स्वार्थता का परिणाम स्वरूप उभरता है न उनके कला के प्रति मोह से । इस संघर्ष का बेखूबी चित्रण ग्यारहवीं शताब्दी के उडिया इतिहास का सहारा लेते हुए जगदीश चन्द्र माथुर ने "कोणार्क" खींचा है । ऐतिहासिक व्यक्तित्व कालिदास को "मोहन राकेश" ने "आषाढ़ का एक दिन" और सुरेन्द्र वर्मा ने "आठवाँ सर्ग" में रूपायित किया और सत्ता के अधीन में स्वतंत्रता की हवा न ले सकनेवाली स्थिति को दिखायी गयी है । भीष्म साहनी ने भी इस मामले पर अपनी लेखनी चलायी है । चेकोस्लोवाकिया में प्रचलित एक लोककथा को आधार बनाकर उन्होंने "हानूश" में सत्ता के पंजों में कसनेवाले कलाकार व्यक्तित्व को खींच लिया है ।

युद्ध आधुनिक समाज की एक भीषणतम विभीषिका है । युद्ध के पक्ष में सत्य या असत्य हो सकता है लेकिन उसमें मानवीयता पूरी तरह नष्ट हो जाती है । समाज की भलाई के लिए आज तक युद्ध नहीं हुआ है । उसके मूल में किसी व्यक्ति या किसी गुट की स्वार्थता अवश्य काम करती हुई दिखायी पड़ती है । जिस नेता के भेजे में युद्ध के बीज अंकुरित होते हैं उसका कुछ नहीं बिगड़ता और आम आदमी की रीड की हड्डी टूट जाती है । उसके व्यक्तित्व रूपी लहलहाते खेतों से होकर ये नेता अपने रथ चलाते हैं । सभ्यता की ऊँचाई के इस युग में युद्ध, संपूर्ण मानव को त्रस्त ही नहीं बना देता बल्कि परमाणु विस्फोट एवं भविष्य की दुरूहताओं से उसके मस्तिष्क को डावांडोल करता रहता है । अमानवीयता का शिकार बननेवाली जनता हमेशा इसमें पिस जाती है । आधुनिक नाटककारों ने इतिहास और पुराण रूपी बहुमूर्तिदर्शी से आंकने की चेष्टा की है । धर्मवीर भारती ने महाभारत युद्ध के पौराणिक संदर्भ में "अंधायुग" द्वारा युद्ध मात्र से पैदा होनेवाले मूल्यहीनता, विघटन, अमानवीयता तथा व्यक्ति और समाज के टूटन को चित्रित किया है । दुष्यंतकुमार ने "एक कंठ विषपायी" में भी इसी प्रश्न को पुराण के आधार पर खींचा है जहाँ शासक के दंभ एवं झूठे अभिमान युद्ध के कारण बनते हैं । लक्ष्मी नारायण लाल ने "सूर्यमुख" में और गिरिराज किशोर ने "प्रजा ही रहने दो" में युद्ध जनित ह्रासोन्मुखता की ओर इशारा किया है । इन नाटकों के अध्ययन के पश्चात् यह लिख कर सकते हैं कि आधुनिक नाटककारों के लिए इतिहास और पुराण केवल साध्य नहीं साधन है । मौजूदा राजनीति की हर एक पहलू को छूते हुए इन नाटककारों ने भूत और वर्तमान की खाई को कुछ देर के लिए मिटा दिया है ।

पुरुष नेथा समाज में नारी को हमेशा यंत्रणायें भोगनी पडती है । समाज में नारी को नियंत्रित रखने की प्रवृत्ति से ही इसका प्रादुर्भाव हुआ है । मध्यकाल में यह अत्याचार इतना बढ गया कि इसका असर नारी जीवन के सभी पक्षों पर पडने लगा और वे पुरुष के अधीन रह गयी । साम्राज्यवादी व्यवस्था में भी स्त्री की हालत में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ । नारी उत्थान का मुद्दा सबसे पहले तत्कालीन समाज सुधारकों और नेताओं द्वारा और बाद में भिन्न भिन्न संस्थाओं द्वारा विस्तार पा रहा है । लेकिन आज की नारी शिक्षा, वैज्ञानिक जानकारी, अपेक्षाकृत ऊँची आर्थिक हैसियत आदि पाने पर भी व्यक्तिगत और सामाजिक अत्याचार का शिकार बन रही है । जीवन के सारे क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्राप्त करने पर भी आधुनिक नारी वहाँ ही खडी है, जिस बिन्दु पर वह पहले खडी थी । अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए वह छटपटाती रहती है । पुरुष वर्ग की महत्वाकांक्षा अक्सर नारी को बलि देती है । उसका लक्ष्य अपनी लक्ष्यपूर्ति और तद्वारा अहम् की पूर्ति है । इसके लिए वह कभी कभी नारी के त्याग और दुर्बलता एवं समर्पण भावना का लाभ उठाता है । स्त्री की मदद लेकर अपने लक्ष्य तक पहुँचनेवाला पुरुष अपनी लक्ष्य प्राप्ति के बाद यह भूल जाता है कि उसकी विजय के पीछे स्त्री का योगदान रहा था । स्वार्थी पुरुष को नारी सिर्फ अपनी उद्देश्यपूर्ति का माध्यम है । नारी की कोमल भावनाओं और उसकी आस्थाओं से वह खिलवाड करता है । पुरुष चाहे पिता हो, पति हो या पुत्र हो सब को नारी केवल निमित्त बन जाती है । महत्वाकांक्षा के मार्ग में नारी को केवल सीढियाँ समझनेवाले पुरुष की स्वार्थता को आधुनिक नाटककारों ने पर्दाफाश किया है । रामायण की पौराणिक संदर्भ में

भरत भूषण अग्रवाल ने "अग्निलीक" और सर्वदानन्द ने "भूमिजा" नाटकों की सृष्टि की जो इस ज्वलंत समस्या की ओर झाँकने वाले हैं । भीष्म साहनी ने महाभारत के आधार पर "माधवी" में भी इस को उभारने का प्रयास किया है । सुरेन्द्र वर्मा का "सेतुबन्ध" तथा जगदीशचन्द्र माथुर का "शारदीया" ये दोनों नाटक भी यहाँ उल्लेखनीय हैं । राजनीति की तुला पर तौली जानेवाली नारी व्यक्तित्व को "शंकर शेष" ने महाभारत के प्रसंग द्वारा "कोमल गांधार" में प्रस्तुत किया है । नारी में समर्पण भाव जन्मसिद्ध है । स्त्री अपने प्रेमी के लिए सब कुछ समर्पित करती है । लेकिन पुरुष उसके त्याग, प्रेम और समर्पण भाव को नारी की सहज दुर्बलता ही समझ बैठता है । वह भारतीय परंपरा के तन्तुओं से जकडी हुई नारी मानसिकता, उसकी अन्तश्रद्धा और समर्पण भाव का भी खूब लाभ उठाता है । पुरुष द्वारा नारी के व्यक्तित्व को अनदेखा करके उसे नाचीज़ समझने का कारण भी यह है । नये नाटककार की पैनी दृष्टि इस बात पर भी टिकी है । भीष्म साहनी का "माधवी", सर्वदानन्द का "भूमिजा" और भरत भूषण अग्रवाल का "अग्निलीक" यहाँ उल्लेखनीय है जहाँ पुरुष के पैरों तले कुचली हुई नारी का चित्र अतीत के द्वारा हमारे सम्मुख लाया गया है । मोहन राकेश का "आषाढ़ का एक दिन" में भी इस तथ्य को स्थान मिला है । समाज में स्त्री को वंश-वृद्धि का उपकरण मात्र समझने की प्रथा प्राचीनकाल से है । इसके विपरीत मातृत्व को इस दुनिया की सबसे बड़ी विभूति भी मानी जाती है । इस प्रकार दुहरे रूप में उसे प्रतिष्ठा एवं निन्दा यथासमय देने की प्रक्रिया शोषण का ही एक भाग है । मातृत्व की अवहेलना समाज में पहले भी हुई है और वही एक नये रूप में आज भी मौजूद है । आज स्त्री के मातृत्व को किराये पर खरीदा जा सकता है । वैज्ञानिक प्रगति की चरम सीमा के इस युग में सन्तानहीन

व्यावतयों को अपनी कोख किराये में देने की प्रथा चल रही है जहाँ जन्म देने के बाद अपने बच्चे के ऊपर माता का अधिकार नष्ट हो जाता है । भीष्म साहनी ने पौराणिक संदर्भ को खींचते हुए इस सामाजिक अन्तर्विरोध को "माधवी" में पर्दाफाश किया है । इन नाटकों में दृष्टि डालते पर्वा हमें यही महसूस होता है कि कभी कभी इन नाटककारों ने हमें इतिहास से जुटाकर और कभी कभी पुराण से जुड़ाकर सारी जीवन की सार्वकालिक विसंगतियों को देखने का अवसर प्रदान किया है ।

प्राचीनकाल से यहाँ के लोग धार्मिक और धर्मभीरू रहे । इसलिए धर्म के नाम पर किसी भी अत्याचार, अनाचार, शोषण और घुटन को वे सह लेते आ रहे हैं । धर्म की अवहेलना या उसपर प्रहार वे सहते भी नहीं । इसे समझकर मध्यकालीन शासक भारत के विभिन्न धर्मों को सन्तुष्ट करते थे । अपना काम बड़ी होशियारी से निकालते थे । तब धर्म को तृप्त करना वास्तव में उसके धार्मिक नेताओं को मात्र तृप्त करना होता था । अंग्रेज़ों ने इसी चाल को अपनाया था और वे अधिक कामयाब रहे । इसी चाल का सहारा लेकर स्वाधीन भारत के राजनीतिक व शासक भी "वोट" पाने के लिए धार्मिक नेताओं का पालन करते हैं, न कि मनुष्य का । मनुष्य धर्म और राजनीति के गठबन्धन में फँसकर भटक जाते हैं, अत्याचार, उत्पीड़न और शोषण के भोक्ता रहते हैं । धार्मिक नेता आज भी धार्मिक अनुष्ठानों, अन्धविश्वासों और परंपरागत रूढ़ियों के बन्धन में बान्ध रखने का प्रयास करते हैं ताकि अपना रास्ता निष्कंटक रहे । धर्म की पावनता और दैविकता की आड़ में वे लोगों का शोषण ही करते हैं । धर्म और

राजनीति के गठबन्धन और मध्यकालीन परिवेश में कबीर के विद्रोही व्यक्तित्व को भीष्म साहनी ने अपने "कबिरा खड़ा बाज़ार में" नाटक में प्रस्तुत किया । उन्होंने अपने नाटक 'हानूश' में भी इसी बात का उल्लेख किया है । वे धर्म के संरक्षक ढोंगी पादरी लोगों का पोल खोलकर उसके असली रूप प्रस्तुत करते हैं और जनता को इतिहास नहीं भूलने की चेतावनी भी । मणिमधुकर का "इकतारे की आँख" और नरेन्द्र मोहन का "कहै कबीर सुनो भाई साधो" में भी कबीर के व्यक्तित्व को ही उभारा गया है । नरेन्द्र मोहन ने आधुनिक परिवेश में कबीर जैसे व्यक्तित्व की ज़रूरत पर ज़ोर दिया है । मध्यकालीन स्थिति में मानवीय स्थिति को रखना और आज के परिवेश में कबीर जैसे व्यक्तित्व का अंकन तीनों नाटककारों ने किया है । धर्म और राजनीति के गठबन्धन में डूबते आधुनिक समाज की सुरक्षा पर वे बल देते हैं । आज के निर्मम परिवेश और उसकी स्वार्थता और मनमानीपन के बीच खतम होती मानवीयता को आवाज़ दी है । तंत्र साधना का जादू से निरीह आदमी को वशीभूत कर उसे नकाम बनानेवाली शक्तियों और उसके खिलाफ उठ खड़े होनेवाले रूप को लक्ष्मीनारायण लाल ने "कलंकी" में उकेरा है । लक्ष्मीकांत वर्मा का "तिन्दुवुलम" भी धार्मिक अन्धेपन की जकड़न में पड़े मनुष्य और उसकी मुक्ती की लालसा की अभिव्यक्ति मिली है । कथानक चाहे मध्यकाल का हो या तांत्रिक काल का, उसके ज़रिए आधुनिक नाटककार वर्तमान समाज की विद्रूपताओं को प्रकाश में लाए हैं ।

आधुनिक नाटककारों ने इतिहास और पुराण का प्रयोग इस ढंग से किया है कि कहीं-कहीं इतिहास और पुराण वर्तमान और अतीत

के बीच संबंध स्थापित कर देता है और अतीत वर्तमान और भविष्य को समानांतर स्थिति में ला खड़ा कर देते हैं । बदली हुई पारिस्थिति में नई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कथ्य और शिल्प के पुराने प्रतिमान बेकार सिद्ध हुए । इसलिए नयी संवेदना को शब्दबद्ध करने के लिए नए प्रतिमान अपनाने लगे । उनकी पैनी दृष्टि ऐतिहासिक - पौराणिक घटनाओं की तह में छिपी पड़े चिरंतन सत्य को पहचानने में सक्षम हुई । पुराण और इतिहास के पन्ने पलटते समय उनके मन पौराणिक पात्रों के प्रति ममता नहीं रखता है । इसलिए आदर्शवादी आवरण को हटाने या उनमें निहित यथार्थ को छिपाने की कोशिश भी नहीं की गयी । अतीत के खण्डहर से इन्होंने ऐसे क्षणों को संजोया है जो अतीत के साथ वर्तमान और भविष्य को भी समेट सकता है । इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या से काल के नैरन्तर्य को स्पष्ट करने में स्वातंत्र्योत्तर युग के नाटककार बिलकुल कामयाब निकले हैं ।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1.	अंधायुग तृ. सं. 1968	धर्मवीर भारती किताब महल, इलाहाबाद
2.	अग्निलीक दूसरा संस्करण	भारत भूषण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3.	आठवाँ सर्ग प्र. सं. 1977	सुरेन्द्र वर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
4.	आषाढ़ का एक दिन तीसरा संस्करण - 1975	मोहन राकेश राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
5.	इकतारे की आँख प्र. संस्करण-1980	मणि मधुकर सरस्वती विहार, दिल्ली
6.	उद्धार संस्करण - 1956	हरिकृष्ण प्रेमी आत्माराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली
7.	एक कंठ विषपायी तृ. सं. 1976	दुष्यंत कुमार लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
8.	एक पुरुष और प्र. संस्करण - 1974	विनय भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली
9.	एक और द्रोणाचार्य चौथा संस्करण-1983	शंकर शेष पराग प्रकाशन, दिल्ली
10.	एक सत्य हरिश्चन्द्र प्र. संस्करण-1976	लक्ष्मीनारायण लाल राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
11.	कथा एक कंस की पाँचवाँ संस्करण-1991	दयाप्रकाश सिन्हा राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

12. कबिरा खड़ा बाज़ार में	मोहन साहनी
प्र. संस्करण - 1981	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
13. कलंकी	लक्ष्मीनारायण लाल
प्र. संस्करण-1969.	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
14. कला और कृपाण	रामकुमार वर्मा
दूसरा संस्करण 1957	रामनारायण लाल बेनीमाधव, प्रयाग
15. कहै कबीर सुनो भाई साधो	नरेन्द्र मोहन
प्र. संस्करण-1988	पराग प्रकाशन, दिल्ली
16. कीर्तिस्तंभ	हरिकृष्ण प्रेमी
संस्करण	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
17. कोणार्क	जगदीशचन्द्र माथुर
पाँचवाँ संस्करण 1988	भारती भंडार, इलाहाबाद
18. कोमल गांधार	शंकर शेष
प्र. संस्करण-1982	पराग प्रकाशन, दिल्ली
19. गरुड़ध्वज	लक्ष्मीनारायण मिश्र
पाँचवाँ संस्करण-1960	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
20. तिन्दुबुलम	लक्ष्मीकांत वर्मा
प्र. संस्करण-1958	किताब महल, इलाहाबाद
21. तीन नाटक	धर्मेन्द्र वर्मा
प्र. संस्करण-1972	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
22. दशाश्वमेध	लक्ष्मीनारायण मिश्र
सातवाँ संस्करण-1958	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
23. नरसिंह कथा	लक्ष्मीनारायण लाल
संस्करण-1987	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

24. नहुष निपात	उदयशंकर भट्ट
प्र. सं. 1961	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
25. पहला राजा	जगदीशचन्द्र माथुर
सं. 1980	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
26. प्रजा ही रहने दो	गिरिराज किशोर
प्र. संस्करण - 1977	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
27. प्रतिशोध	हरिकृष्ण प्रेमी
संस्करण - 1956	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
28. भारतेन्दु के दो नाटक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
सत्य हरिश्चन्द्र - नीलदेवी	बंगीय हिन्दी परिषद, कलकत्ता
29. माधवी	मोहन राकेश
प्र. संस्करण 1985	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
30. मुक्तिदूत	उदयशंकर भट्ट
संस्करण-1960	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
31. लहरों के राजहंस	मोहन राकेश
संस्करण-1963	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
32. वत्सराज	लक्ष्मीनारायण मिश्र
आठवाँ संस्करण-1959	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
33. विजय पर्व	रामकुमार वर्मा
द्वि. संस्करण-1957	रामनारायण लाल, इलाहाबाद
34. वितस्ता की लहरें	लक्ष्मीनारायण मिश्र
चतुर्थ संस्करण-1962	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
35. विद्रोहिणी अम्बा	उदयशंकर भट्ट
द्वि. संस्करण-1964	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

36.	विदा संस्करण-1963	हरिकृष्ण प्रेमी हिन्दी भवन, इलाहाबाद
37.	विशाख सप्तम संस्करण - सं. 2022	जयशंकर प्रसाद भारती भंडार, इलाहाबाद
38.	शारदीया प्र. संस्करण	जगदीशचन्द्र माथुर सस्ता प्रकाशन, दिल्ली
39.	शिवसाधना छठां संस्करण-1961	हरिकृष्ण प्रेमी हिन्दी भवन, इलाहाबाद
40.	सत्य हरिश्चन्द्र संस्करण-1959	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विमेद पुस्तक मन्दिर, आगरा
41.	सूर्यमुख प्र. सं. 1988	लक्ष्मीनारायण लाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
42.	स्वप्नभंग चौथा संस्करण-1952	हरिकृष्ण प्रेमी आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
43.	हानूश तृतीय संस्करण-1985	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
44.	अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धी सं. 1973	डा. सुरेश गौतम साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
45.	आज़ादी की कहानी प्र. संस्करण-1965	मौलाना आज़ाद ओरियंट लौंगमेन्स लिमिटेड
46.	आधबिंब और गोदान प्र. संस्करण-1992	डा. कृष्णमुरारी मिश्र राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
47.	आधुनिक हिन्दी साहित्य संस्करण-1954	डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हिन्दी परिषद, प्रयाग

48.	आधुनिक निबन्धावली दूसरा संस्करण-1976	सं. डा. विद्यानिवास मिश्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
49.	आधुनिक नाटक का मसीहा: मोहन राकेश प्र. संस्करण-1975	डा. गोविन्द चातक बन्धुपत्थ प्रकाशन, दिल्ली
50.	आधुनिक हिन्दी नाटक और नाटककार संस्करण-1973	डा. रामकुमार गुप्त जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
51.	आधुनिक हिन्दी नाटक षष्टम संस्करण-1960	डा. नगेन्द्र साहित्य रत्न भंडार, आगरा
52.	उत्तरी भारत की संत परंपरा तृतीय संस्करण-1972	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी भारती भंडार, इलाहाबाद
53.	उदयशंकर भट्ट: व्यक्तित्व और जीवन दर्शन, प्र. सं. 1986	डा. सत्येन्द्र चतुर्वेदी देवनागर प्रकाशन, जयपुर
54.	कबीर छठा संस्करण-1964	डा. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई
55.	कबीर का सामाजिक दर्शन संस्करण	डा. प्रह्लाद शर्मा पुस्तक संस्थान, कानपुर
56.	कविता की तीसरा आँख प्र. सं. 1980	डा. प्रभाकर श्रोत्रिय नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
57.	कविता का अन्त: अनुशासनीय विवेचन, प्र. सं. 1986	डा. धीरेन्द्र सिंह के. एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली
58.	क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? प्र. संस्करण-1965	आचार्य तुलसी भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी

59.	गांधी विचार धारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, प्र. सं. 1973	अरविन्द जोशी जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
60	चिन्तामणि - 1 संस्करण-1977	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
61.	जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता प्र. संस्करण-1990	डा. प्रभाकर श्रोत्रिय भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
62.	द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. 1973	डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
63.	नई कविता और पौराणिक गाथा, प्र. सं. 1980	डा. रामस्वार्थ सिंह क्लासिकल पब्लिकेशन्स, दिल्ली
64.	नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति प्र. संस्करण- 1973	सं. देवीशंकर अवस्थी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
65.	नाटककार उदयशंकर भट्ट प्र. संस्करण-1963	डा. मनोरमा शर्मा आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
66.	नाटककार भारतेन्दु और उनका पुत्र, प्र. संस्करण-1990	डा. कुंवरचन्द्र प्रकाशसिंह तुलसी प्रकाशन, लखनऊ
67.	नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी : व्यक्तित्व और कृतित्व प्र. संस्करण - 1960.	डा. विश्वनाथ प्रसाद दीक्षित बंसाल एण्ड कम्पनी, दिल्ली
68.	नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर प्र. संस्करण-1973	डा. गोविन्द चातक राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
69.	नाटककार रामकुमार वर्मा सं. 1989	डा. कमल तूर्यवर्धी विकास प्रकाशन, कानपुर
70.	नयी कविता: स्वरूप और समस्यायें, वि. सं. 1969	डा. जगदीश गुप्त भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

71. नारी शोषण आईना और आयाम — आशारानी व्होरा
प्र. संस्करण-1982 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

72. परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य — डा. हेतुभरद्वाज
प्र. संस्करण-1984 — पंचशील प्रकाशन, जयपुर

73. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पी. एं. डी. - सं. 2017 — डा. जगन्नाथ प्रताप शर्मा
सरस्वती मन्दिर, वाराणसी

74. प्रसाद के तीन नाटक — डा. प्रेमनारायण टंडन
प्र. सं. 1974 — नन्दन प्रकाशन, लखनऊ

75. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल — डा. शिवकुमार मिश्र
प्र. संस्करण-1981 — पापुलर लिटरेचर, दिल्ली

76. बंदी की चेतना — कमलपति त्रिपाठी
प्र. संस्करण- सं. 2019 — नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

77. बीस स्मृतियाँ — आचार्य श्रीराम शर्मा
प्र. संस्करण - 1960 — संस्कृति संस्थान, बरेली

78. भारतीय नारी: दशा, दिशा — आशारानी व्होरा
प्र. सं. 1983 — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

79. भारतीय समाज में नारी आदर्श का विकास, प्र. सं. 1967 — डा. चन्द्रबली त्रिपाठी
दुर्गावती त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश

80. भारतेन्दु के प्रमुख नाटक — डा. सत्येन्द्रकुमार सिंह
प्र. सं. 1988 — अतुल प्रकाशन, कानपुर

81. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
द्वि. संस्करण - 1956 — साहित्य भवन, इलाहाबाद

82. भारतेन्दु के नाटक — डा. भानुदेव शुक्ल
संस्करण-1972 — ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर

83. मध्ययुगीन रचना और मूल्य प्र.सं. 1984	डा. कमला प्रसाद वाणी प्रकाशन, दिल्ली
84. मानव मूल्य और साहित्य प्र.सं. 1960	डा. धर्मवीर भारती भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
85. मिथक और भाषा संस्करण-1981	सं. डा. शंभुनाथ हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
86. मिथकीय पारिभाषा और आधुनिक काव्य, प्र.सं. 1985	डा. जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
87. मिथक और आधुनिक कविता प्र.सं. 1985	डा. शंभुनाथ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
88. मिथक उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य, प्र.सं. 1986	डा. उमापुरी विद्याविनोदस्पति नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
89. मिथक एक अनुशीलन प्र.सं. 1988	डा. मालती सिंह लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
90. मोहन राकेश: साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, प्र.सं. 1975	मोहन राकेश राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
91. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, प्र.सं. 1978	सं. डा. महीप सिंह भारवा प्रकाशन, दिल्ली
92. विवेक के रंग प्र.सं. 1965	सं. वेणीशंकर अवस्थी भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता
93. विवेकानन्द साहित्य प्र.सं. 1963	स्वामी गंभीरानन्द अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा
94. श्रृंखला की कड़ियाँ संस्करण	महादेवी वर्मा भारती भंडार, इलाहाबाद

95. संस्कृति के चार अध्याय तृ. संस्करण-1962	डा. रामधारी सिंह दिनकर उदयाचल प्रकाशन, पटना
96. सत्य की ओर प्र. संस्करण-1963	डा. राधाकृष्ण राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
97. समकालीन हिन्दी कहानी : युगबोध का संदर्भ, प्र. सं. 1986	डा. पुष्पपाल सिंह नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
98. समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक, प्र. सं. 1979	डा. रमेश गौतम नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली
99. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक, प्र. सं. 1988	डा. शेखर शर्मा भावना प्रकाशन, दिल्ली
100. समकालीन कविता : ऐतिहास बोध प्र. सं. 1989	डा. राकेश कुमार प्रकाशन संस्थापन, नई दिल्ली
101. साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, प्र. सं. 1990	डा. नगेन्द्र सिंह वाणी प्रकाशन , दिल्ली
102. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक चेतना, प्र. सं. 1984	डा. कृष्णकुमार शिवसागरचन्द दिनमान प्रकाशन, दिल्ली
103. साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंध, प्र. सं. 1985	डा. नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी सारस्वत प्रकाशन, नई दिल्ली
104. सातवें दशक के प्रतीकात्मक नाटक प्र. संस्करण-1977	डा. रमेश गौतम राजेश प्रकाशन, दिल्ली
105. साहित्य : अध्ययन की दृष्टियाँ प्र. संस्करण - 1983	सं. डा. उदयभानु सिंह आदि नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
106. साहित्य और संस्कृति संस्करण-1990	मोहन राकेश राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

107.	साहित्य और सामाजिक मूल्य प्र. संस्करण - 1985	डा. हरदयाल विभूति प्रकाशन, दिल्ली
108.	स्त्री : उपेक्षिता द्वि. संस्करण - 1991	सीमोन द बोउवार सरस्वती विहार, दिल्ली
109.	स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, प्र. सं. 1987	मृणाल पांडे राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
110.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक: मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में प्र. सं. 1980.	डा. रीता कुमार विभु प्रकाशन, हापिसाबाद
111.	हिन्दी उपन्यास:यात्रा गाथा प्र. सं. 1985	डा. शशिभूषण सिंहल ऋषभचरण जैन व सन्तति, दिल्ली
112.	हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियाँ प्र. सं. 1970	डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
113.	हिन्दी कहानी आन्दोलन, उपलब्धी और सीमायें, प्र. सं. 1966	डा. रजनीश कुमार नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
114.	हिन्दी कविता में युगान्तर द्वि. सं. 1957	डा. सुधीन्द्र आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
115.	हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका, प्र. सं. 1978	सं. डा. प्रभाकर श्रोत्रिय मैकमिलन कम्पनी, दिल्ली
116.	हिन्दी नवलेखन प्र. सं. 1960	डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
117.	हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्ताक्षर प्र. सं. 1980	डा. रामकुमार गुप्त अमर प्रकाशन, मथुरा

118.	हिन्दी नाटक सिद्धांत और समीक्षा, पृ. सं. 1959	डा. रामगोपाल सिंह चौहान प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
119.	हिन्दी नाटककार द्वि. सं. 1961	डा. जयनाथ नलिन आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
120.	हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, सं - सं. 2014	डा. दशरथ ओझा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
121.	हिन्दी नाटक कोश पृ. सं. 1975	डा. दशरथ ओझा नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
122.	हिन्दी एकनाटक : सिद्धांत और इतिहास, पृ. सं. 1971	डा. सिद्धनाथ कुमार आलोक प्रकाशन, रांची
123.	हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-11, सं-सं. 2029	सं. डा. राधिका सिन्हा नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
124.	हिन्दी साहित्य की भूमिका तृ. सं. 1977	आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
125.	हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास -भाग 2, सं. 1989	डा. गणपति चन्द्र गुप्त लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
126.	हिन्दी साहित्य का इतिहास सं. 1983	सं. डा. नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

127. Myth and Reality; First Edition — MIRCEA ELIADE, George Allen &Unwin Ltd; London.

128. The Encyclopedia of Britanica Vol-5 ; 15th Edition

129. Social and Cultural History of India-P.N.Chopra, First Edition — B.N.Puri & M.N.Das. Macmillan Company of India Limited.

पत्र पत्रिकाएँ

1. पूर्वग्रह
2. आलोचना
3. तारिका
4. दस्तावेज़
5. गवाह
6. इंडिया टुडे (मलयालम)
7. इंडिया टुडे (अंग्रेज़ी)
8. इंडिया टुडे (हिन्दी)
9. संगथन
10. मधुमति
11. धर्मयुग
12. मुक्ता
13. गगनांचल
14. नवभारत टाइम्स(दैनिक)
15. द वीक (अंग्रेज़ी)
16. मलयालमनोरमा - दैनिक

G 56630
COCHIN UNIVERSITY LIBRARY ADOLOGY
COCHIN - 682 022